बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संपादक
अशोक मिश्र

सहायक संपादक
अमित विश्वास

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक
अंक : 38 (जुलाई-सितंबर- 2013)
प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :
संपादक बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट-हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मो. संपादक-09422386554, ईमेल : amishrafaiz@gmail.com
मो. सहायक संपादक-09970244359, ईमेल : amitbishwas2004@gmail.com
प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव
ईमेल : bpsjnu@gmail.com फोन : 07152-232943, मो. 0805290240

© **संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित**
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

प्रचार प्रसार : रामप्रसाद कुमरे, ईमेल : ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943, मो. 08055916194, 09406546762
बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग, **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
गांधी हिल्स, पोस्ट-हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत
फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903
वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय** के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली- 110032, मो. 09212796256
यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड
आवरण : अशोक सिद्धार्थ

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY : MAHATMA GANDHI ANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA, GANDHI HILLS, POST HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)
email : ruchikaprinters2005@gmail.com

श्रद्धांजलि

- ❐ कथाकार सुरेंद्र तिवारी
- ❐ कथाकार-उपन्यासकार और विषयवस्तु के पूर्ण संपादक धर्मेंद्र गुप्त
- ❐ समाज विज्ञानी और स्त्रीवादी लेखिका शर्मिला रेगे
- ❐ सुप्रसिद्ध इतिहासकार वरुण डे
- ❐ जीव विज्ञानी ओबेद सिद्दीकी

सभी दिवंगत विभूतियों को बहुवचन परिवार की ओर से हार्दिक श्रद्धांजलि...

अनुक्रम

वैचारिकी

भक्ति-आंदोलन : पुनर्मूल्यांकन *07*
खगेंद्र ठाकुर

स्वामी सहजानंद और भारतीय क्रांति **17**
राघव शरण शर्मा

बाजार की हिंदी और हिंदी का बाजार **22**
भारत यायावर

व्याख्यान

रामचंद्र शुक्ल का चिंतन **27**
ओमप्रकाश सिंह

कहानियां

अम्माएं/सरहपाद का निर्गमन **36**
दूधनाथ सिंह

मेहमान **43**
राकेश भारतीय

कविताएं

मलय **52**
ऋतुराज **59**
श्याम कश्यप **67**
दिविक रमेश **76**

संस्मरण

बुड्डआ *84*
स्वप्निल श्रीवास्तव

यात्रा वृत्तांत

अलीशिर नवाई का देश और मोनालिसा का नशा **87**

संतोष श्रीवास्तव

आलोचना

कुमारन आशान : स्वतंत्रता का अनुगायन **99**

गंगा प्रसाद विमल

लघु से विराट का संधान करते यायावर अज्ञेय **110**

चंद्रकांता

जन्म शताब्दी पर विशेष

बात ईमान की तो बिगाड़ का डर कैसा? **118**

रणजीत साहा

पुनर्पाठ

सुभद्रा कुमारी चौहान कृत 'बंदिनी की डायरी' **127**

सुंदरम शांडिल्य

स्क्रैप बुक्स

रामविलास शर्मा की स्क्रैप बुक्स-3 **135**

लुडविग वैन बीथोवन

प्रस्तुति : विजय मोहन शर्मा

मीडिया

ब्रांड और उपभोक्तावादी संस्कृति **144**

संजय सिंह बघेल

बात बोलेगी

दोउ न एक संग होंहि भुआलू **157**

संजीव

निर्मला : सामर्थ्य और सीमा **161**

विजेंद्र नारायण सिंह

प्रेमचंद की कहानी 'रक्षा में हत्या' : 'दुर्लभ एवं असंदर्भित' होने का दावा कितना सच? **167**

कमल किशोर गोयनका

भक्ति-आंदोलन : पुनर्मूल्यांकन

खगेंद्र ठाकुर

आंदोलन हो या काव्य-प्रवृत्ति सब के उद्‌भव के कुछ प्रेरणा-स्रोत होते हैं, ऐतिहासिक, सामाजिक पृष्ठभूमि होती है। अंग्रेज विद्वान जार्ज ग्रियर्सन ने तो उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन के बारे में कहा कि बौद्ध-आंदोलन के बाद मध्यकाल में अचानक बिजली की चमक की तरह भक्ति-आंदोलन का उदय हो गया, जिसके बारे में कोई नहीं जानता कि उसका कारण क्या था। ग्रियर्सन की विद्वत्ता भी कारण नहीं बता सकी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देने की कोशिश की 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उसके सामने ही देव मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे।... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की भक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?' एक तो आचार्य शुक्ल के द्वारा बताई गई मनोदशा ऐतिहासिक नहीं है, दूसरे, तर्कसंगत भी नहीं है। यदि मंदिर तोड़े जा रहे थे और देव-मूर्तियां तोड़ी जा रही थीं, तो मंदिर में रहने वाले ईश्वर और मूर्तियों में प्रतिष्ठित देवगण क्यों नहीं कुछ कर रहे थे, आक्रमणकारियों को ध्वस्त क्यों नहीं कर रहे थे। यदि वे अपनी ही रक्षा नहीं कर पा रहे थे, तो जनता का ध्यान उनकी ओर कैसे गया? आचार्य शुक्ल और प्रेमचंद समकालीन थे। 'प्रेमाश्रम' में सरकारी अधिकारी और जमींदार के कारिंदा लगान वसूलने गांव गए हैं और उन्होंने वहां अड्डा जमा दिया। उनके खाने-पीने आदि का सारा प्रबंध गांव वालों को करना था। खेलने के लिए टेनिस-कोर्ट बनवाया, खेत को छील-छाल कर चौरस कराया किसानों से। किसानों ने इसे अपना अपमान समझा। इसकी दो प्रतिक्रियाएं देखने को मिलती हैं। सक्खू चौधरी घर गया और जिस शालिग्राम शिला को ईश्वर मानकर वह रोज पूजता था, उसे कुएं में फेंक दिया; क्योंकि वह जब उपासक की इज्जत नहीं बचा सका तो किस काम का? उसके बाद सुक्खू चौधरी घर छोड़कर कहीं चला गया। दूसरी प्रतिक्रिया मनोहर और उसके बेटे बलराज की है। उन्होंने जमींदार के कारिंदा कादिर खां की हत्या कर दी। आचार्य शुक्ल ने जो प्रतिक्रिया बताई है, वह इतिहास से प्रमाणित नहीं है। और वह स्वाभाविक भी नहीं है। आचार्य शुक्ल ने भक्ति-काल का आरंभ विक्रम संवत 1375 यानी सन् 1318 माना है। यों इतिहास में कोई प्रवृत्ति किसी साल पैदा होती है, यह मानना सही नहीं है, फिर भी युग का प्रारंभ तो कहीं से मानना

पड़ेगा। यह प्रायः लोदी-वंश का शासन-काल था। इस प्रसंग में प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता सतीशचंद्र ने 'मध्यकालीन भारत' नाम की अपनी चर्चित पुस्तक में लिखा है 'उत्तर भारत में जब तुर्कों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया, तब इस्लाम भारत के लिए नया नहीं था। पंजाब और सिंध में इस्लाम की स्थापना नवीं-दसवीं शताब्दी में ही हो गई थी। अरब यात्री भी उससे पहले केरल में बस गए थे। उस काल में अरब यात्री और सूफी सारे देश में भ्रमण करते थे। इस्लाम पर बौद्ध दर्शन और वेदांत का प्रभाव विद्वानों के लिए वाद-विवाद का विषय रहा है।... इन विचारों ने सूफी मत के विकास की पृष्ठभूमि तैयार की। बारहवीं शताब्दी के बाद भारत में पांव जमाने के पश्चात् सूफी मत ने हिंदू और मुसलमानों के लिए सामान्य मंच उपलब्ध किया। (पृ.-117) इस्लाम में रहस्यवाद के उदय से सूफी मत का उदय माना जाता है। यह ठीक है कि सूफी मत में मूल धारणा-इस्लाम की ही रही, लेकिन वह उससे कुछ भिन्न भी हो गया। एक किंवदंती प्रसिद्ध है। हजरत मुहम्मद जब बहिश्त में प्रवेश के लिए दरवाजे पर खड़े थे और उनके पीछे उनके शिष्यों की कतार थी, तभी उन्होंने देखा कि कछ लोग उनकी कतार से हटकर खड़े थे। पैगंबर ने अपने एक शिष्य से पूछा 'वे कौन लोग हैं। तो शिष्य ने बताया 'वे सूफी हैं।' फिर पैगंबर ने पूछा 'वे वहां क्या कर रहे हैं?' तो उन्हें बताया गया कि वे भी बहिश्त में जाने के लिए खड़े हैं।' इस पर पैगंबर ने कहा 'मेरे बिना।' यानी वे खुदा के पास परमात्मा के पास सीधे जाने की साधना करते थे। आत्मा-परमात्मा का संबंध सीधे था, बीच में किसी भी जरूरत नहीं थी। ऐसे सूफी संत 1192 में पृथ्वीराज चौहान की हार के बाद भारत आए थे और बाद में अजमेर जाकर बस गए थे, जिनमें ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती का बड़ा नाम रहा है। आज भी अजमेर शरीफ मशहूर है। सतीशचंद्र लिखते हैं 'तुर्कों के भारत आगमन से काफी पहले से ही यहां एक भक्ति आंदोलन चल रहा था, जिसने व्यक्ति और ईश्वर के बीच रहस्यवादी संबंध को बल देने का प्रयत्न किया था।' (मध्यकालीन भारत, पृ.-120)। यह दक्षिण भारत में उत्पन्न और प्रसारित भक्ति आंदोलन था। बौद्ध आंदोलन के समानांतर बहुत हद तक उसे प्रसार का विरोध करते हुए यह भक्ति-आंदोलन फैला। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का उद्‌भव और प्रसार प्रायः चार-पांच सौ वर्ष बाद में हुआ इसका ऐतिहासिक ओर सामाजिक कारण यह है कि उत्तर में बौद्ध-प्रभाव के कारण दलितों पर अत्याचार दक्षिण की तुलना में कम था। बौद्ध-आंदोलन भी भक्ति का मार्ग बना नहीं सका, बल्कि बुद्ध की भी अवलोकितेश्वर के रूप में पूजा शुरू कर दी, तो लोगों ने शिव और विष्णु के प्रति समर्पण को भी मोक्ष और भक्ति के मार्ग के रूप में देखा। दक्षिण के भक्ति-आंदोलन का उत्तर में प्रसार उनकी भाषागत सीमा के कारण भी हुआ। नायनार और आलवार भक्तों ने अपनी भाषा में लिखा, यह तो स्वाभाविक था, लेकिन उनकी चेतना उत्तर तक आने में देर हुई। अक्सर कहा गया है कि भक्ति की चेतना को दक्षिण से उत्तर लाने वाले रामानंद थे। गौर करें महाराष्ट्र के संत कवि नामदेव चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए माने जाते हैं। नामदेव पेशे से दर्जी थे। संत बनने से पहले वे डाकाजनी करते थे, लेकिन उनके जीवन में परिवर्तन आया तो भक्ति का उपदेश देने लगे। उन्होंने दूर-दूर तक यात्रा की। वे दिल्ली भी आए थे और सूफी संतों से मिलकर विचार-विमर्श भी किया था।

रामानंद का समय सतीशचंद्र के अनुसार चौदहवीं का उत्तरार्द्ध और पंद्रहवीं सदी का पूर्वार्द्ध था। अतः स्पष्ट है कि रामानंद से पहले ही नामदेव की भूमिका है और उनसे पहले सूफी संतों की। रामानंद के विचार इस भक्ति-आंदोलन को बल पहुंचाते हैं। वे जन्म-आधारित भेद-भाव और अस्पृश्यता के खिलाफ थे। सभी वर्णों और जातियों के एक साथ उठने-बैठने, खाने-पीने के पक्ष में थे वे। भक्ति का मार्ग सबके लिए खोल देने का पक्ष मजबूत हुआ। लेकिन रामानंद ने शैव-वैष्णव मत के स्थान पर राम-भक्ति का प्रसार करने की कोशिश की। लेकिन भक्ति-काव्य पर गौर करें, उसमें व्यक्त चेतना तथा संतों और भक्तों के जीवन पर गौर करें तो हम देखते हैं कि भक्ति आंदोलन की प्रथम सीढ़ी पर निर्गुण भक्त हैं, दूसरी सीढ़ी का अष्टछाप के कवि हैं, जो कृष्ण भक्त थे और तब आते हैं राम भक्त, जिनकी परंपरा भक्ति-काव्य में बहुत प्रचलित तो है, लेकिन कृष्ण-काव्य की तरह समृद्ध नहीं है। यह ठीक है कि कृष्ण-चेतना और राम-चेतना में बहुत फर्क नहीं है। चेतना में फर्क नहीं होते हुए भी उद्देश्य और स्वरूप में तो बहुत फर्क है। तुलसीदास के जीवन का एक प्रसंग है। एक मित्र उन्हें वृंदावन ले गया राधा कृष्ण के मंदिर में। राधा-कृष्ण की मूर्ति के सामने तुलसी खड़े थे, प्रणाम नहीं किया। मित्र ने प्रणाम करने को कहा तो तुलसी ने यह दोहा लिखा 'कहा कहौं छवि आपकी, भले बने हो नाथ तुलसी मस्तक तब नबै, धनुबान लेहु हाथ।' क्या बात है? बांसुरी बजाने वाला नहीं, तीर छोड़ने वाला चाहिए, अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए।

भक्ति-आंदोलन के उदय के बारे में एक बात और ध्यान देने लायक है। अनेक विद्वानों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि इस्लाम में समानता का भाव था, जिससे हिंदू-समाज में अपमानित और दलित लोग भक्ति की ओर आकृष्ट हुए। सतीशचंद्र भी कुछ हद तक यह बात मानते हैं, लेकिन इरफान हबीब कहते हैं कि मुस्लिम समाज में सामाजिक समानता की बात कतई नहीं थी भले इबादत की समानता थी। इसलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना सही है कि इस्लाम नहीं आता, तब भी भक्ति-आंदोलन का अस्सी प्रतिशत ऐसा ही होता, जैसा है। बीस प्रतिशत प्रभाव क्या है? इसे द्विवेदीजी ने स्पष्ट नहीं किया है। मुझे लगता है कि सतीशचंद्र का यह कथन युक्ति संगत है। 'राजपूत राजाओं की पराजय और तुर्कों की सल्तनत स्थापित हो जाने के बाद ब्राह्मणों का आदर और उनकी भक्ति कम हो गई थी।' (पृ.-120)

लेकिन इस बात की भी अभिव्यक्ति पहले नाथपंथी आंदोलन में हुई। नवीं सदी में हुए आचार्य रूद्रट ने लिखा है कि कभी-कभी कविगण आकर कहते थे राजाओं में संघर्ष होता रहता है और राजा बदल भी जाते हैं, राजनीतिक अस्थिरता के कारण राजाओं को नायक बनाने में दिक्कत होती है, तो रूद्रट ने कहा देवताओं पर काव्य लिखो। इस प्रकार भक्ति की ओर कवियों के मुड़ने का एक कारण यह भी हो सकता है।

भक्ति आंदोलन का नारा था

जात-पांत पूछे नहिं कोई
हरि को भजै सो हरि का होई।।

जाहिर है कि हिंदू समाज की जाति प्रथा के खिलाफ विद्रोह का स्वर था भक्ति-आंदोलन। इस नारे और विद्रोह ने मुख्यतः ब्राह्मण वर्चस्व को चुनौती दी।

निर्गुण-सगुण

भक्ति आंदोलन के संतों और भक्तों का निर्गुण-सगुण में बटवारा जितना विचारधारा पर आधारित है, उससे कई गुना ज्यादा सामाजिक आधार पर था। याद करें नामदेव दर्जी, नानक बनिया, कबीर जुलाहा, रैदास चमार, दादू दयाल धुनिया, सेना नाई, साधना कसाई थे। इनमें नानक को छोड़कर सभी समाज में प्रायः निचले पायदान पर थे, उन्हें मंदिर में प्रवेश करके ईश्वर से अपना दुखड़ा सुनाने का, प्रार्थना करने का भी अधिकार नहीं था। यह तो हाल-हाल तक रहा है। अब भी ऐसी पाबंदी पूरी तरह खतम नहीं हुई है। सभी जानते हैं कि 1933 में महात्मा गांधी जब अपने 'हरिजनों' को लेकर वैद्यनाथ मंदिर (देवघर) में प्रवेश कर रहे थे, तो उन्हें पंडों का प्रहार झेलना पड़ा। इसी घटना या दुर्घटना के बाद दिनकर ने 'बोधिसत्व से' शीर्षक कविता लिखी थी। इस कविता की पहली पंक्ति इस प्रकार हैं

'दौड़ो-दौड़ो हे बोधिसत्व भारत में मानवता, अस्पृश्य हुई।'

दिनकर ईश्वर को नहीं पुकार रहे, व्यग्रता से बुद्ध के एक रूप बोधिसत्व को पुकार रहे हैं। मानवता का अभाव हो गया है। मंदिरों में बहरे पाषाण स्थापित हैं, और कविता के अंत में कहते हैं

'कैसे बचें दीन हाय, प्रभु भी धनियों के गृह में बंद हुए।'

मध्यकाल में तो यह पाबंदी और भी कठिन थी। इसीलिए सभी तरह-तरह के कारीगर, जो आत्म सम्मान का भाव तो मन में अर्जित कर चुके थे, लेकिन समाज ने उनको सम्मान नहीं दिया, तो उन्होंने यह विचारधारा विकसित की कि ईश्वर तो निर्गुण या उससे भी परे है। 'गुण' तो प्रकृति में होते हैं, ईश्वर प्रकृति से भी ऊपर है, इसलिए वह मंदिरों में या मूर्तियों में कैसे हो सकता है। वह कहां नहीं है। कबीर ने कहा

'जाके मुख माथा नहीं, नाही रूप-कुरूप
पुहुप वासतें पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥'

उसका कोई आकार नहीं है, रूप-कुरूप कुछ नहीं। वह ऐसा अनुपम तत्व है, जो फूल 'पुहुप' की खुशबू से भी सूक्ष्म है। फूल की खुशबू को मनुष्य नाक से तो ग्रहण कर सकता है, अन्य पदार्थों को हाथ, मुंह (जीभ) आंख-कान आदि ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त करते हैं। गंध को नाक से ग्रहण करते हैं। ईश्वर को नाक से भी नहीं पा सकते। इस प्रकार ईश्वर इंद्रियातीत है, जो इंद्रियातीत है, वह अनुभवातीत है और जो अनुभवातीत है, वह वर्णनातीत है। इस हालत में निर्गुण संत शून्य गगन में यानी अपने मन में उसके बारे में ध्यान करते रहे। वह तो सर्वत्र है, सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है। संतों के मुताबिक वह मनुष्य के शरीर में आत्मा रूप में है। आत्मा-परमात्मा के एक होने का ज्ञान हो जाना ही असली ज्ञान है, ऐसा कबीर और अन्य निर्गुणियों की मान्यता है। तो हमारे समाज में अस्पृश्यता और निर्धनता का होना, साथ ही श्रमिक चेतना का होना भक्ति आंदोलन में निर्गुण मार्ग के उद्‌भव और विकास का स्रोत है।

जाहिर है सगुण भक्त वे लोग थे, जो एक तो कारीगर नहीं थे, दूसरे जाति-व्यवस्था में ऊपरी सीढ़ी पर थे, मंदिरों में जाकर भजन-भाजन तो करते ही रहते थे। वे यह भी मानते थे

कि ईश्वर या परमात्मा साकार रूप में आते हैं। आते हैं या नहीं यह तो विवाद का विषय है, लेकिन सगुण भक्तों की यह कोशिश रही है कि वे आम लोगों को यह दिखा सकें कि कभी ईश्वर विभिन्न रूप धारण करके संकट के दिनों में लोगों की मदद करने आते थे और आदमी की तरह आदमी की मदद करते दिखते थे।

मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि सगुण भक्त कवियों में अग्रणी हैं। मीरा ने कृष्ण को अपने पति के रूप में अपना लेने की भावना अपने गीतों में व्यक्त की है। भक्ति का आवेश उनमें तर्क से परे है, अनुभव से भी परे है। लेकिन भक्ति आंदोलन से उनका संपर्क दूसरों की तरह नहीं है। वे राणा संग्राम सिंह की पुत्रवधू थीं और कुंभाजी की पत्नी थीं। वे भक्ति-काव्य में अकेले उनके गीत हैं जो कवयित्री के निजी जीवन की व्यथा व्यक्त करते हैं।

सूरदास ने कृष्ण के बाल-जीवन का वर्णन करते हुए कृषि-कर्म के पशुपालन से संबंधित अनुभवों को व्यक्त किया है। कृष्ण गाय चराते हैं, चरवाहों के साथ रहते, उठते-बैठते हैं। इसके साथ यशोदा का वात्सल्य इस तरह मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त हुआ है कि सूर-काव्य के अध्येताओं को सूर की कला पर अचरज होता है। अचरज होता है इसलिए कि बाल-वर्णन एकदम अभिधा-शैली में स्वभावोक्ति के रूप में किया गया है। अभिधा और स्वाभावोक्ति में कवित्व व्यंजित करना कठिन कवि-कर्म है। खैर, यहां मुख्य बात यह है कि सगुण-भक्ति भक्तों को गांवों की ओर किसानों और पशुपालकों की ओर ले जाती है। इस प्रसंग में तुलसीदास और आगे बढ़े हैं। सूर और तुलसी भी मानते रहे हैं कि ईश्वर, अनिर्वचनीय है। सूर उसे गूंगे का गुड़ कहते हैं और तुलसी कहते हैं 'प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी।' यह कथन तो कबीर के करीब है।

सामाजिक दृष्टि

सगुण-निर्गुण के प्रसंग में यह भी ध्यान में लाने की जरूरत है कि समाज में जो सगुण-समर्थक थे, वे अस्पृश्यता और भेद-भाव के भी समर्थक थे। और जो निर्गुण पंथ को मानते थे वे स्वयं पीड़ा झेल रहे थे। इसलिए निर्गुण संतों ने समाज में समानता कायम करने की आवाज उठाई। जन्म के आधार पर किसी को छोटा-बड़ा समझना गलत है, क्योंकि जन्म की प्रक्रिया में भेद कहां हैं? भेद तो जन्म के बाद पैदा किया जाता है। नानक ने कहा

'एक नूर ते सब जग उपज्या
कौन भले कौन है मंदे।'

एक ईश्वरीय नूर (प्रकाश) से यह पूरा संसार पैदा हुआ है, सभी उसी में के बंदे हैं, इसलिए यह भेद करना गलत है कि कौन भला है और कौन बुरा है।

कबीर ने कहा जो बामन बामनि जाया और राह काहे न आया जो तुरकहिं तुर्कनि जाया पेटहिं खतना क्यों न कराया?

यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ गर्भ (ब्राह्मणी) से पैदा हुआ है, तो उसी राह से क्यों पैदा हुआ, जिस राह से सभी पैदा हुए। उसी तरह तुर्क यदि तुर्कानी के गर्भ से पैदा हुआ है तो पेट में ही खतना क्यों कराया? कहने का अर्थ यह कि जो भेद लोगों में, समाज में दिखाई पड़ते हैं, वे मनुष्य-कृत

हैं, जन्म के बाद मनुष्य को भेद-भाव से जोड़ा जाता है। रैदास ने इसी बात को यों कहा है

'चमरठा गांठ न जनई, लोग गठावैं पनही।'

मैं चमरौंधा जूता बांधकर या लेकर नहीं पैदा हुआ, लोगों ने मुझसे जूते बनवाए और फिर मुझे चमार कहकर छोटा बनाया। जूता बनाने का कर्म उसे समाज ने सौंपा और वह समाज की जरूरत पूरी कर रहा है। और एक जगह रैदास कहते हैं

'जे पहुंचे ते कह गए, जिनकी एकै बाति
सबै सयाने एक मत तिनकी एकै जाति॥'

सभी बुद्धिमानों की बात एक है, एक ही जाति है। इसमें यह अर्थ भी निहित है कि जो अलग-अलग जातियों के आधार पर मनुष्य को देखते हैं, वे सयाने नहीं हैं। जाति तो पूरे समाज की एक है। 'गीता' में एक जगह कहा गया-

'जन्मना जायते शूद्रः
संस्कारात् द्विजुच्यते॥'

जन्म से सभी शूद्र होते हैं, संस्कार से द्विज कहे जाते हैं। यहां दो बातें एकदम साफ हैं-1. जन्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए। और दूसरी बात यह कि संस्कार इसी जीवन में अर्जित किए जाते हैं। जब सत्ताधारी और संपत्तिधारी वर्गों ने श्रम करने वालों को संस्कार अर्जित करने के अधिकार से वंचित कर दिया, तो शूद्र और द्विज का भेद पैदा हुआ। द्विजों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य रहे। ध्यान देने की बात है कि सवर्ण के दायरे में शूद्र भी आते हैं, क्योंकि चार वर्ण हैं, शूद्रों को वर्ण प्राप्त था, अवर्ण के अछूत या अस्पृश्य। शूद्रों को संपत्ति अर्जित करने और रखने के अधिकार से भी वंचित कर दिया गया। यद्यपि ऐसा पूरी तरह कभी लागू नहीं हुआ, फिर भी भेद-भाव तो रहा ही। श्रम को जन्म से जोड़ देने से सामाजिक गति में अवरोध पैदा हो गया। पेशा या व्यवसाय चलने की स्वतंत्रता उनको नहीं मिल सकी, जो प्रतिष्ठापूर्ण पेशा चुनना चाहते थे। जाति-प्रथा में खान-पान, शादी ब्याह आदि के मामले में शुद्धता की दृष्टि से रीति-रिवाज विकसित किए गए, जिससे समाज से मनुष्यता का लोप हो गया। इसी पृष्ठभूमि में भक्ति-आंदोलन का विकास हुआ और भक्ति काव्य रचा गया। यह रचने का अधिकार उन्होंने किसी से मांगा नहीं, अपनी भाषा में उन्होंने अपने भाव-विचार व्यक्त किए, तो एक नए जन-जागरण का उदय हुआ।

भक्ति-आंदोलन की सीमा

भक्ति-आंदोलन ने शोषित-पीड़ित, उपेक्षित और अपमानित जनता को जगाया और सामाजिक समानता की आवाज मुखरित की। जन्मजात समानता है, तो जीवन में भी समानता हो। इस महान उद्देश्य को साधने के लिए जनता को जगाना भी भारतीय इतिहास में महात्मा बुद्ध के बाद ही हुआ। उल्लेखनीय है कि इन संत और भक्त कवियों ने जनता में प्रतिष्ठा भी हासिल कर ली थी। वे अपना श्रम करते हुए यानी जुलाहा और दर्जी या धुनिया बने रहकर भी जनता में संत के रूप में प्रतिष्ठित थे। रैदास को मीराबाई ने अपना गुरु बना लिया था। कबीरदास अपने विचारों को लेकर इब्राहिम लोदी से भिड़ गए थे और कबीर के समर्थकों की तादाद देखकर

दिल्ली सल्तनत के बादशाह भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं सके। तुलसीदास को बादशाह अकबर ने प्रवचन देने के लिए अपने दरबार में बुलाया था, वे नहीं गए, एक दोहा लिखकर भेज दिया-

'हम चाकर रघुवीर के पढ़ौ लिखौ दरबार
तुलसी अब का होइहैं नर के मनसबदार॥'

बादशाह को उन्होंने नर कहा और उसकी हैसियत नारायण (राम) के सामने क्या है? तुलसीदास कबीर से प्रभावित थे, तभी तो उनकी राम-कथा में शंबूक-बध नहीं है। यह निर्गुण पंथ का प्रभाव है। इससे तुलसी की ही मर्यादा बढ़ी। इस प्रभाव ने राम के व्यक्तित्व को गढ़ने में भी तुलसी की मदद की।

भक्ति-काव्य की भाषा भी ध्यान देने लायक है। जन-जागरण के लिए जन-भाषा या लोक भाषा की जरूरत थी। भक्त कवियों ने लोक-भाषा को काव्य-भाषा बना दिया। इससे जन-चेतना के विकास की प्रक्रिया भी आगे बढ़ी। अंधविश्वासों और रूढ़ियों पर धार्मिक आडंबर पर जमकर चोट की गई। इन सबके बावजूद यह विचारणीय है कि भक्ति आंदोलन अपने उद्देश्य में सफल क्यों नहीं हुआ। इतना ही नहीं कि वह सफल नहीं हुआ, बल्कि यह भी हुआ कि अनेक प्रहार और जागरण से सामंतवाद कमजोर होता, वह नहीं हुआ। सामंतवादी शक्तियों ने अपने को आगे चलकर सुदृढ़ कर लिया। इस हद तक कि कविता की धारा ही बदल गई। भक्ति आंदोलन के कवि राज्याश्रम में नहीं थे, बल्कि उसके खिलाफ थे। तुलसी ने तो कहा ही कि हम नर के मनसबदार नहीं बन सकते, कंचनदास ने भी कहा 'संतन को कहां सीकरी सो काम' और कबीर ने कहा

'प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय
राजा-परजा जेहि रुचै शीश देई लै जाय॥'

रैदास ने कहा

'पराधीनता पाप है जानि लेहु रे मीत।
रविदास दास पराधीन सो कौन करे है पीत॥'

भक्ति-आंदोलन के बाद कवि और कविता दोनों राज्याश्रित हो गए। इन सबके पीछे एक बड़ी बात यह थी कि भक्त कवि अपने आंदोलन के उद्देश्य के अनुकूल विचारधारा नहीं पा सके। यह आश्चर्यजनक है कि उन्होंने लोकायत या बौद्धमत को नहीं अपनाया, इससे भिन्न भक्त-कवियों ने 'मिथ्यावाद' की विचारधारा अपना ली और जनता को एक अदृश्य सत्ता के सामने ले जाकर छोड़ दिया। यहां आकर महान जनता समर्पित हो गई, असहाय हो गई। संत-भक्त कवि निरपवाद रूप से वेदांत और शंकराचार्य के 'ब्रह्म सत्यमं जगन्मिथ्या' 'केवल ब्रह्म सत्य है और यह जगत मिथ्या है' के फेर से पड़े रह गए। मध्यकाल में सबसे क्रांतिकारी समझे जाने वाले कबीर भी कहते हैं

'रहना नहिं देस विराना है
यह संसार कागद की पुड़िया बंद पड़े गति जाना है?
यह संसार झाड़ और झांझड़ आग लगे जरि जाना है॥'

जहां जरूरत थी संसार और समाज को बदलने की, क्योंकि उसके बिना समानता नहीं

हासिल की जा सकती, शोषण-मुक्त नहीं हुआ जा सकता। लेकिन दुनिया को बदलने की उद्देश्य रहा नहीं, इसलिए उसके लिए संघर्ष नहीं हुआ। शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धांत की व्याख्या मध्यकाल में रामानुज, भक्तवल्लभ आदि ने की, जिनसे भक्त कविगण प्रभावित रहे।

भक्ति-काव्य में मानवीय संवेदना और विचारधारा या दृष्टिकोण के बीच टकराव स्पष्ट रूप से व्यक्त है। जब कबीर या रैदास या तुलसीदास ही जब समाज के बारे में, पीड़ित लोगों के बारे में सोचते हैं तो विचारधारा या दृष्टिकोण का उल्लंघन करते दीखते हैं, लेकिन अंततः विचारधारा संवेदना को दबा देती है। बात यह है कि भक्ति काव्य के रचयिताओं की चेतना मूलतः भक्ति भावना से बनी है, यही कारण है कि उनकी चेतना संवेदना के अनुकूल नहीं ढल पाती। उद्देश्य और दृष्टिकोण में दिशागत एकता होती है, तभी सफलता मिलती है। आप देख सकते हैं कि बीसवीं सदी के अंतिम दशक में 'सामाजिक न्याय' की जो भावना उभरी, वह पूंजीवादी विचारधारा के नीचे दबकर रह गई और भ्रष्ट नेतृत्व ने सामाजिक न्याय को सामाजिक अन्याय का रूप दे दिया।

मध्यकाल में तुलसीदास ने अपनी मानवीय संवेदनशीलता को राम की संघर्ष-शीलता से बल पहुंचाया, लेकिन राम-काव्य आखिर कथा ही तो है। वह कथा लोगों को प्रेरणा देती है, लेकिन राम भी लीला-पुरुष बनकर रह गए। तुलसीदास ने अपने समय के लिए आवश्यक अनेक आदर्श तय किए और उन्हें राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, केवट, शबरी, हनुमान, सुग्रीव, विभीषण आदि के व्यक्तित्वों और चरित्रों में मूर्त कर अपने काव्य में प्रस्तुत कर दिए। वे आदर्श भी काव्यात्मक ही बने रह गए।

आज के युग में हम पीछे उलटकर साहित्य को देखते हैं तो यह मानते हुए कि रचना को उसकी पृष्ठभूमि में रखकर देखना चाहिए, हम अपने समय के तकाजे की उपेक्षा नहीं कर सकते। जब भारत में भक्ति-आंदोलन चल रहा था और किसी अदृश्य सत्ता की प्रणति में काव्य रचा जा रहा था, तब यूरोप में कॉपरनिकस (सोलहवीं सदी) बता रहे थे कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी उसके चारों ओर घूमती है। इस सत्य की अभिव्यक्ति ने दुनिया और मनुष्य के बारे में सोचने-समझने का नजरिया भी बदलने की कोशिश की। रूढ़िवादी समाज और शासन ने कॉपरनिकस को मृत्यु दंड दे दिया लेकिन वैज्ञानिक बात धीरे-धीरे फैलती रही। आगे चलकर गैलिलियो ने भी वही बात कही, तो उसे आजीवन कारावास दिया गया। यह सब धर्म की रक्षा के लिए या बेहतर होगा यह कहना कि सत्ता और यथास्थिति की रक्षा के लिए धर्म का सहारा लिया गया। हमारे यहां भक्त कवियों के लिए वैज्ञानिक रुख अपनाना संभव नहीं था, हालांकि जीवन में न्याय के लिए उन्होंने तर्क करने वैचारिक लड़ाई करने की कोशिश की। रीतिकाव्य ने तो भक्ति आंदोलन की आवाज को ऐतिहासिक नेपथ्य में ठेल दिया। जनता तो ऐसा लगा कि ईश्वर की तरह ही अदृश्य हो गई। हालत ऐसी हो गई कि कविता जीवन की धड़कन से दूर जाकर हास्यापद तक हो गई। यद्यपि रीति-काव्य संपूर्ण ऐसा नहीं है, उसमें घनानंद, भूषण, मतिराम, रसखान आदि अपवाद हैं, जो जीवन और कविता का भिन्न स्वाद देते हैं।

सब कुछ के बावजूद जीवन-मूल्य, संघर्ष और आदर्शों से भरे काव्य-सृजन के जरिए आज तक हमें आकृष्ट करने और समय-समय पर झकझोरने वाला भक्ति-काव्य हमारे लिए गर्व का

विषय तो है ही लेकिन यहीं पर और एक बात की ओर ध्यान खींचना चाहता हूं।

डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं 'इहलोकवाद और परलोकवाद का द्वंद्व यूरोप के पैमाने पर यहां कभी नहीं फैला। वास्तविक मोक्ष इस जीवन में है, जीवन के उपरांत नहीं। भक्त कवियों ने प्रेम के मंत्र से कर्म के बंधन काट दिए, पुरोहितों के रचे हुए स्वर्ग और नरक के सुहावने और डरावने चित्र मिटा दिए। उन्होंने सांस्कृतिक धरोहर को लोक संस्कृति से जोड़कर उसे नया रूप दिया। उन्होंने लोक-जीवन से अभिन्न रहकर साहित्य में यथार्थवाद का विकास किया।' (हिंदी जाति का साहित्य)

भक्ति काव्य का अध्ययन करने से यह बात प्रमाणित नहीं होती कि उसमें इहलोकवाद और परलोकवाद का द्वंद्व नहीं है या कम है। यथार्थवाद का अंश भक्ति-काव्य में इतना ही है कि कवियों ने जन्मगत भेद और जातीय उत्पीड़न के खिलाफ जोरदार आवाज उठाई। इसका जिक्र इस लेख में अन्यत्र हुआ है। निर्गुण, संतों की विश्व-दृष्टि परलोकवादी ही है। इसका भी जिक्र किया गया है। शंकराचार्य के नियतवाद पर आधारित है उनकी विश्व-दृष्टि। यह परलोकवाद इहलोक के यथार्थ की अभिव्यक्ति को दाब देता है। तुलसी जैसे कवि जब अदृश्य सत्ता के अवतार को मानते हैं, तो परलोकवाद के प्रभाव को ही स्वीकार करते हैं। द्वंद्व यह है कि मानवीय संवेदनशीलता इहलोकवाद की ओर ले जाती है और अवतारवाद परलोकवाद की ओर। स्वयं भक्ति अदृश्य सत्ता के प्रति प्रणति ही तो है। सूरदास जब लिखते हैं कि 'जाकी कृपा पंगु गिरि चढै अंधे को सब कुछ दरसाई।' तो परलौकिक भक्ति की ही महिमा गा रहे हैं न! यों यह एक संस्कृत-कथन का अनुवाद भी है। सहजो बाई कहती है

'बड़ा न जाने पाइहैं साहिब के दरबार
द्वारे ही सो लागिहैं सहजो मोटी मार॥'

सब को एक दिन साहिब के दरबार में जाना ही है, भक्त कविगण समानता के पक्ष में, विषमता के खिलाफ थे, इसीलिए साहिब के दरबार में अमीरों के जाने का निषेध करते हैं। कबीर तो यहां तक कहते हैं कि 'चींटी के पग नेवर बाजै सो भी मेरा साहब सुनता है।' मैं कह चुका हूं कि जन-जागरण जैसे ऐतिहासिक कर्म को परलौकिक भक्ति के सामने ले जा कर खड़ा कर देने के कारण ही मध्यकाल का महान आंदोलन विफल हो गया। अचरज की बात मेरे लिए यह है कि सामाजिक विषमता और धार्मिक पाखंड का विरोध करते हुए भी संत-भक्ति कवियों ने चार्वाक या बौद्धमत को क्यों नहीं अपनाया। मुझे इस बात पर अचरज हो रहा है कि पारलौकिकता के स्पष्ट होने पर भी डॉ. रामविलास शर्मा कैसे कह जाते हैं कि भक्ति-काव्य में इहलोक और परलोक का द्वंद्व कम है।

भक्ति-आंदोलन और भक्ति-काव्य हमारी विरासत है। हम उस महान जागरण और सृजन के वारिस हैं। विरासत एक ऐतिहासिक जवाबदेही है। हमारे उन पुरखों ने जिस सत्य और न्याय के लिए संघर्ष किया और अपना दायित्व अधूरा छोड़ गए, उसे अपने आज के संघर्ष से जोड़कर उसे पूरा करने की जवाबदेही कबूल करना ही विरासत को स्वीकार करना है। हम उसे हू-ब-हू नहीं कबूल करते, उसकी समीक्षा करके उसकी सीमाओं से बचकर, आज की अपेक्षाओं को विकसित करके ही हम विरासत को मंजिल तक ले चलने में सफलता हासिल कर सकते हैं। हमें अपनी विरासत पर

नाज है। इस विरासत को आधुनिक युग में प्रगतिशील आंदोलन ने ग्रहण किया है।

भक्ति-काव्य की विरासत को कबूल करते हुए हमें इतना ध्यान में रखना होगा कि आज हमारी लड़ाई पूंजीवाद या विश्व पूंजीवाद के खिलाफ लड़ना है। आज का पूंजीवाद वित्तीय पूंजीवाद है, मनुष्यता का सबसे बड़ा दुश्मन, इस दुश्मन को पराजित किए बिना हम अपनी विरासत और उद्देश्य को चरितार्थ नहीं कर सकते। कबीर का यह कथन आज भी हमारे सामने है और सफलता के संघर्ष के स्वरूप एक कठिनाई का बोध देता है। वे कहते हैं

'सूर संग्राम ते भागै नहीं, भागै सो तो सूर नाहीं
काम-क्रोध मद-लोभ मोह ते जूझना
मचा घमसान तन खेत माहीं॥'

अपने उद्देश्य और विरासत की लड़ाई जीतने के लिए अपने को योग्य कैसे बनाएं, यही कबीर हमें बता रहे हैं। पहली लड़ाई तो अपने भीतर लड़नी है, उसे जीतकर ही हम अपने प्रतिपक्ष से लड़ने के लिए मैदान में उतर सकते हैं। चलिए, जीत-हार को अपनी लड़ाई के स्वरूप पर छोड़ दें। बीसवीं सदी के क्रांतिकारी भाषा फैज अहमद फैज कहते हैं

'यूं ही हमेशा उलझती रही है जुल्म से ख़ल्क
न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई
यूं ही हमेशा खिलाए हैं हमने आग में फूल
न उनकी हार नई है न अपनी जीत नई।'

मुख्य बात यह है कि लड़ाई जारी रहे, विरासत पर विरासत बनती रहे, इस तरह हमारी परंपरा बनती और बढ़ती चले। कबीर का वंश बढ़े नहीं। प्रगतिशील आंदोलन ने समानता की लड़ाई को समाज को बदलने का रूप दिया और धार्मिक पाखंड के खिलाफ लड़ाई को वैज्ञानिक नजरिए से जोड़ा।

अतः यह कहा कि इतिहास से जानकारी ही न लें, इतिहास बनाते समय भी। जीवन, समाज, इतिहास आदि को बदलने की लड़ाई मुश्किल होती है, वह कुर्बानी मांगती है। हम फिर फैज को याद करते हुए इन पंक्तियों से यह लेख समाप्त करते हैं

'जिस धज से कोई मकतल में गया, तो मान सलामत रहती है,
ये जान तो आनी जानी है, इस जान की कोई बात नहीं।'

❑❑

स्वामी सहजानंद और भारतीय क्रांति

राघव शरण शर्मा

स्वामी सहजानंद के अनुसार क्रांति का मतलब व्यवस्था में आमूल-चूल बुनियादी एकाएक परिवर्तन है, जिसमें शासक वर्ग बदल जाता है। एक राजसत्ता की कई सरकारें होती हैं। सिर्फ सरकार बदलने, शासक पार्टी बदलने, शासक व्यक्ति के बदलने को क्रांति नहीं कहते हैं। राज्यसत्ता किसी वर्ग की या वर्गों के संश्रय की होती है। अतः शासक वर्ग को बदले बिना, शासन की प्रणाली को बदले बिना, शासन के संविधान को नए वर्ग के अनुकूल बदले बिना क्रांति संभव नहीं है। स्वामी सहजानंद भारतीय क्रांति की अवधारणा के निर्देशक, सूत्रधार, पटकथा लेखक सिद्धांतकार, सूत्रकार, संघर्षकार थे। स्वामीजी के अनुसार यदि क्रांति संपन्न हुई होती तब इसके शिल्पी निश्चय ही सुभाषचंद्र बोस होते क्योंकि गांधी, नेहरू, पटेल के आर्टिकुलेशन का जबाव वही दे सकते थे। स्वामीजी मूलतः सन्यासी थे, चिंतक थे, भिडंत के महानायक थे मगर राजनीति के पैंतरों को समझने में उतना सिद्धहस्त नहीं थे। फिर भी स्वामीजी ने 14-15 जून 1947 को कांग्रेस महासमिति की बैठक में गांधी के बंटवारा प्रस्ताव का डटकर विरोध किया।

इस क्रांति को संपन्न करने के लिए स्वामीजी के पास मुकम्मल तथ्य और कार्यक्रम था।

लक्ष्य वर्तमान साम्राज्यवादी, आवारा पूंजीवादी, सामंतवादी राज्य सत्ता को ध्वस्त कर किसान-मजूर राज्यसत्ता की स्थापना और शोषित-पीड़ित जनता की वर्ग हित की रक्षा करने वाली सरकारें कायम करना।

कार्यक्रम

इसके लिए किसान-मजदूर और टूटपूंजीय वर्गों का संयुक्त मोर्चा उनकी पार्टियों की जनसंगठन की एकता के जरिए तैयार करना। सामंत विरोधी संघर्ष के जरिए साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को अग्रगति दिया जाएगा।

सामंतवाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद से एकमुश्त मुक्ति जरूरी है। आर्थिक आजादी के बगैर राजनीतिक आजादी व्यर्थ है। किश्त किश्त में आजादी सही नहीं है। डोमिनियन स्टेट्स के जरिए आजादी लेना पूर्ण आजादी की फांसी होगी।

सूत्रीकरण

1. साम्राज्यवाद प्रधान अंतर्विरोध है।
2. सामंतवाद प्रधान अंतर्विरोध का प्रधान पहलू है।
3. किसान आसन्न क्रांति का प्रधान कल है।
4. सर्वहारा किसान संश्रय क्रांति की धुरी है।
5. जनता का जनवाद क्रांति की प्रथम मंजिल है। दूसरी मंजिल कालांतर में समाजवाद है।
6. धर्म से नहीं, झगड़ा धर्म के ढकोसला से है। असली वेदांत मानस सेवा और दूसरों की भलाई है।
7. सबकी भलाई, सबका स्वराज्य किसान मजदूर के लिए यमराज है। अतः सर्वोदय के नाम पर जमींदार-मालदार बाबू वर्ग के राज्य की जगह बहुजन हिताय हेतु किसान-मजदूर राज्य देश के हित में है।
8. अंतरराष्ट्रीयता जरूरी है मगर राष्ट्रहित को बलि देकर नहीं। अतः आत्म निर्णय के नाम पर पाकिस्तान निर्माण में सहयोग करना आत्मघाती है।
9. संसदीय रास्ता तभी अपनाना है जब नेता परीक्षित और आजमाया हुआ हो। वह भी इस मतलब से कि एक ओर संसद का उपयोग भंडाफोड के लिए करें और दूसरी ओर जनता को बतलाएं कि यह मार्ग जनहित के लिए अपर्याप्त और गौण महत्व का है। असली संघर्ष बाहरी है और बाहरी का मतलब वर्ग संघर्ष है।
10. यदि किसानों को बचाना है तो किसानों को किसान मजदूर राज्य सत्ता की स्थापना के लिए वर्ग चेतना जगाकर तैयार करना होगा और सत्ता बलपूर्वक छीननी होगी।
11. बलपूर्वक का अर्थ उग्र किसान मजदूर आंदोलन जो आर्थिक मांग से प्रारंभ कर राज्य विप्लव तक पहुंचे। इसके लिए लाल सेना नहीं, सिर्फ आत्म रक्षार्थ मीलिशिया आवश्यक है।
12. क्रांति का नेतृत्व सम्मिलित होगा।

स्वामी सहजानंद ने अपने लेखों, भाषणों, पुस्तकों द्वारा शोषण मूलक खेतिहर संस्कृति का सही-सही चित्रण किया और खेतिहर सामाजिक वर्गीकरण, सामाजिक बदलाव में किसानों का स्थान, सर्वहारा के साथी की पहचान का सही मूल्यांकन, विश्लेषण, चित्रण किया और कई मुद्दों पर परंपरावादी रूढ़िवादी वामपंथ और पलटबाज अवसरवादी वामपंथ से गहरी असहमति जताई। वे कृषि में तकनीकी प्रवेश के प्रति ज्यादा आग्रहशील थे। उन्होंने मार्क्स और वेदांत दोनों का पर्नुपाठ किया और मार्क्स को सहृदय तथा वेदांत को तर्कशील बुद्धिवादी बनाया और दोनों के बीच पुल बनाया। उन्होंने यूनियन के ट्रेडिज्म पर भी सवाल खड़े किए। उन्होंने वाम दलों के संयुक्त मोर्चा का नेता सुभाषचंद्र बोस को बनाया पर समाजवादी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की पलटबाजी के कारण सुभाष की शिकस्त पूरे भारत में वामपंथ की शिकस्त हो गई और बाबू वर्ग गद्दीनसीन हो गया। स्वामीजी को इसका बहुत मलाल रहा। मृत्यु पूर्व उन्होंने 18 वामदलों

का संयुक्त मोर्चा बनाया और एकदल संयुक्त समाजवादी दल बनाया जिसके वे 21 फरवरी 1950 को राष्ट्रीय अध्यक्ष बने। इस दल में निम्न व्यक्ति शरीक हुए

1. स्वामी सहजानंद सरस्वती
2. सोमनाथ लाहिड़ी (1948 पटना सम्मेलन में शरीक थे)
3. राजदेव सिंह (सोशलिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया)
4. यमुना कार्यी (बिहार प्रांतीय किसान सभा)
5. शीलचंद्र याजी (प्रधानमंत्री फॉरवर्ड ब्लाक)
6. ओंकारनाथ शास्त्री (प्रधानमंत्री रिवोल्यूशनरी वकर्स पार्टी)
7. रामचंद्र राय (वोल्शेविक पार्टी ऑफ इंडिया)
8. अजित राय (वोल्शेविक लेनिनिस्ट पार्टी आफ इंडिया)
9. सुधीर नाथ कुमारी (रिवोल्यूशनरी कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया)
10. सुशील भट्टाचार्य (रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी)
11. साधन गुप्ता (खान मजदूर संघ)
12. जीवन लाल चटर्जी (डेमोक्रेटिक मैन गार्ड)
13. पंकज कुमार दास (कम्युनिस्ट वकर्स लीग आफ इंडिया)
14. परमानंद प्रसाद (किसान सभा)
15. टी परमानंद (मजदूर सभा)
16. शिवनाथ घोष (सोशलिस्ट यूनिटी सेंटर)
17. कम्युनिस्ट वकर्स पार्टी ऑफ इंडिया
18. रामदुलारी सिन्हा (सुगर फेडरेशन)

स्वामीजी ने 1940 में ही सुभाषचंद्र बोस से मिलकर 19 मार्च 1940 रामगढ़ से अंग्रेजों भारत छोड़ो आंदोलन शुरू किया था, जिसमें संसदवादी नेताओं की विलंबित शिरकत 9 अगस्त 1982 मुंबई में हुई। यदि 1940 में जयप्रकाश, पीसी जोशी, नेहरू अंग्रेजों के विरुद्ध साथ दिए होते तो भारत उसी समय आजाद हो जाता। स्वामीजी दूर तक सोचते थे, अतः काल का अतिक्रमण कर सोच लेते हैं। साम्राज्यवाद आज भी भारत पर हावी है, अतः स्वामीजी आज भी समकालीन हैं।

स्वामी सहजानंद सरस्वती का पृष्ठाधार और प्रार्दुभाव

1930 के आसपास किसान विस्फोट का भारतीय राजनीति में प्रादुर्भाव होता है। प्रादुर्भाव का पृष्ठाधार राजनीति की अन्य चालू धाराओं में आया ठहराव है। 1922 से गांधीजी के नेतृत्व में चल रहा संसदीय सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाता है और चरखा जैसा सामाजिक काम रचनात्मकता के आधार पर हाथ में ले लिया जाता है। खिलाफत आंदोलन में धर्म के सवाल के प्रमुख स्थान ले लेने के कारण टर्की के खलीफा की गद्दी तो न बचाई जा सकी पर धार्मिक अंधविश्वास की राजनीतिक मान्यता ने तबलीग और शुद्धिकरण अभियान को जन्म दिया, जिसके परिणाम में केरल के मोपला दंगा, कानपुर, अहमदाबाद, पेशावर, कोहाट इत्यादि में दंगे फूट पड़े,

जिसमें गणेशंकर विद्यार्थी, स्वामी श्रद्धानंद इत्यादि का बलिदान हुआ। 1930 में विश्व बाजार में मंदी छाई हुई थी। भारत के किसान भी सस्ती के कारण मालगुजारी चुकाने में असमर्थ थे। उनका आक्रोश उबाल पर था। जब, कांग्रेस ने राजनीतिक संघर्ष चौरी-चौरा के बाद स्थगित कर दिए तब कमाने वाली जनता मौजूदा व्यवस्था के खिलाफ आक्रोश की अभिव्यक्ति का नाया मार्ग तलाश करने लगी। सहजानंद को इतिहास ने अपने इसी मोड़ पर पैदा किया और उन पर यह कार्यभार डाला कि वे किसान हलचल को आंदोलन का संगठित रूप प्रदान करें। स्वामी सहजानंद की इस बात के लिए प्रशंसा की जानी चाहिए कि उन्होंने अपने ऊपर इतिहास द्वारा डाली गई जवाबदेही को बूखबी पूरा किया। सहजानंद ने हलचल को उग्र आंदोलन और अंत में व्यापक जन उत्साह तक पहुंचाया पर उस समय के समाजवादी, मार्क्सवादी संसदीय नेताओं की पलटबाजी के कारण सहजानंद कमानेवाली जनता के हाथ राज्यसत्ता न दिलवा सके। 1939-40 में सुभाष की शिकस्त समूचे वामपंथ की भारत में शिकस्त बन गई और 15 अगस्त 1947 को डोमिनियन स्टेट्स पर संतोष करना पड़ा।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद

भगत सिंह की गिरफ्तारी और चंद्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्ला के बलिदान के बाद क्रांतिकारी राष्ट्रवाद में भी ठहराव आ गया। इस ठहराव ने किसान आंदोलन की धारा को जमीन तोड़कर प्रवाहित होने का मौका प्रदान किया।

स्वराज्य पार्टी

मोतीलाल नेहरू की स्वराज्य पार्टी, मालवीयजी की नेशनेलिस्ट पार्टी, लाजपत राय की इंडिपेंडेंट पार्टी भी जनता को साम्राज्यवाद से राहत नहीं दिला पाई। अब 1930 के दशक में साम्राज्यवाद का विरोध का प्रधान उपकरण एकमात्र किसान संघर्ष ही रह गया।

किसान मजदूर एकता

स्वामी सहजानंद ने किसान नेता रामवृक्ष बेनीपुरी, श्यामनंदन बाबा इत्यादि को बिहरा चीनी मील में मजदूर फ्रंट पर मजदूरों के सवाल पर उन्हें संगठित करने, संघर्ष पर उतारने में लगाया। उन्होंने दूसरी तरफ मजदूर नेता अनिल मिश्रा, इंदुलाल यागिक इत्यादि को बड़हिया और गुजरात में किसान आंदोलन के मोर्चे पर लगाया। इस तरह किसान मजदूरों को एकता एवं संश्रय का मार्ग दिखाकर भावी क्रांति का पथ प्रशस्त किया। स्वामी सहजानंद का वर्गमूल एवं वर्गहित दोनों गरीब किसान पृष्ठाधार था।

सांस्कृतिक नवजागरण

बिहार का सांस्कृतिक नव जागरण तभी परवान चढ़ा जब बिहार में किसान आंदोलन बलवती हुआ। रामधारी सिंह दिनकर, बेनीपुरी, राहुल, नागार्जुन, अज्ञेय, माचवे, रेणु, वियोगी, उग्र, रामनरेश त्रिपाठी, चंद्रदेव शर्मा, पद्म सिंह त्यागी इत्यादि उसी किसान आंदोलन की उपज हैं।

रामवृक्ष बेनीपुरी किसान आंदोलन की पत्रिका योगी, लोकसंग्रह और जनता के संपादक थे। नागार्जुन ने 'बलचनमा' उपन्यास, रेणु ने 'मैला आंचल', दिनकर ने 'हुंकार' 'कुरूक्षेत्र' इत्यादि की रचना किसान संघर्ष को पृष्टाधार बनाकर किया है। एन.जी. रंगा आंध्र में इंदुलाल यागिक गुजरात में, अज्ञेय मेरठ में, प्रभाकर माचवे बागपत में, मुल्कराज आनंद त्रिपुरी में किसान संघर्ष में स्वामीजी के साथ थे। अतः हिंदी क्षेत्र के नवजागरण में स्वामीजी का बड़ा हाथ था।

भारत छोड़ो आंदोलन

कहा जाता है कि भारत छोड़ो आंदोलन 9 अगस्त 1942 मुबई से शुरू हुआ। विचारणीय बात यह है कि यदि यह सच है तब फिर सुभाष चंद्र बोस, स्वामी सहजानंद, इंदुलाल, नारीमन, शार्दुल विक्रम सिंह, शीलचंद्र याजी, त्रिलोकनाथ चक्रवर्ती, योगेश चटर्जी, योगेंद्र शुक्ला, रामनंदन मिश्र, सूरज नारायण सिंह, गुलाली सोनार, कपिलदेव राय, नन्हकू सिंह इत्यादि 1940 के प्रारंभ से ही जेल में क्यों बंद थे। यदि प्रकाशन विभाग केंद्र सरकार की पुस्तक स्वामी सहजानंद सरस्वती के दस्तावेजों को देखें तो भारत छोड़ो आंदोलन की शुरुआत स्वामी सहजानंद और सुभाष के नेतृत्व में 10 मार्च 1940 रामगढ़ के समझौता विरोधी सम्मेलन से हुआ। गांधीजी के ग्रुप की बिलंबित कागजी शिरकत 1942 में हुई। गांधीजी ने सिर्फ व्यक्तिगत सत्याग्रह करने को कहा था। 1942 को चलाने वाले सुभाष समर्थक सियाराम सिंह, नाना पाटिल, त्रिलोक नाथ चक्रवर्ती, केशव प्रसाद शर्मा, झारखंडे राय इत्यादि थे। यह विषय विस्तार और बहस की अपेक्षा रखता है।

संदर्भ

1. स्वामी सहजानंद सरस्वती रचनावली, संपा. राघव शरण शर्मा प्रकाशन संस्थान, दिल्ली।
2. स्वामी सहजानंद सरस्वती, राघवशरण शर्मा, प्रकाश विभाग, भारत सरकार, दिल्ली।

❐❐

बाजार की हिंदी और हिंदी का बाजार

भारत यायावर

हर वर्ष सितंबर महीने में राजभाषा दिवस के अवसर पर हिंदी के लिए चिंतन-अनुचिंतन शुरू हो जाता है। कहीं हिंदी की गरिमा और परम्परा पर उत्सवधर्मिता, तो कहीं उसके पिछड़ेपन पर, दुर्दशा पर विलाप! शासकीय एवं कार्यालयी काम-काज में आज भी अंग्रेजी का वर्चस्व राजभाषा हिंदी पर कायम है।

यह प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू हुई थी। 7 मार्च, 1835 ई॰ में गवर्नर जनरल विलियम बेंटिग ने घोषणा की थी 'ब्रिटिश सरकार का महान उद्देश्य भारत के निवासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान को प्रोत्साहन देना होना चाहिए था और यह कि शिक्षा के लिए संपूर्ण कोष को अंग्रेजी शिक्षा पर ही व्यय करना सर्वोत्तम होगा।' उसी समय लार्ड मैकाले ने भी उनके सुर-में-सुर मिलाते हुए कहा 'अंग्रेजी आधुनिक ज्ञान की कुंजी है। यह पश्चिम की भाषाओं में भी सर्वोपरि है। यही भारत के शासकों द्वारा बोली जाने वाली तथा पूर्वी समुद्री व्यापार की भी भाषा है।... इस समय हमें अपनी सर्वोत्तम शक्ति का उपयोग कर एक ऐसे वर्ग की सृष्टि करनी है, जो हमारे और उन लाखों, जिन पर हम शासन करते हैं, के बीच दुभाषिए का काम कर सके। लोगों का एक वर्ग जो रक्त और रंग में भारतीय हो किंतु रुचि, विचार, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज हो।'

कहना न होगा कि लार्ड मैकाले की परिकल्पना अक्षरशः सही साबित हुई और आजादी के बाद भी रुचि, विचार, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेज बने हुए भारतीयों की बहुसंख्यक एवं प्रभावशाली उपस्थिति बनी रही। अंग्रेजी ने सरकारी, गैर-सरकारी दफ्तरों, शिक्षण-संस्थाओं, व्यापार-व्यवसायों, न्यायालयों, पत्रकारिता आदि पर उन्नीसवीं शताब्दी से कब्जा जमाना शुरू किया और धीरे-धीरे इसने तमाम भारतीय भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। कमोबेश आजादी के बाद भी यही स्थिति बनी हुई है। फिर भी अंग्रेजी भारतीय भाषाओं को पूरी तरह अपदस्थ नहीं कर पाई। इसका कारण है, हिंदी समेत सभी भारतीय भाषाओं का लोक-जीवन से गहरा तादात्म्य। हिंदी जनभाषा है। यह स्वाभाविक रूप में निर्मित हुई है। इसका निर्माण किस प्रकार हुआ एवं यह किस तरह इतनी व्यापक भाषा के रूप में प्रचलित हुई कि इसे राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त हुआ? इस पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

भारत के शहरों का निर्माण बाजार के रूप में हुआ। आज भी देहात के लोग अपने समीप

के शहर को बाजार के रूप में पहचानते हैं अर्थात शहर का मतलब बाजार! और जहां बाजार होगा वहां अनेक जगहों से आकर बसे हुए व्यापारियों, दुकानदारों का जमघट तो होगा ही। हिंदी, जिसे प्रारंभ में हिंदुस्तानी और बाद में खड़ी बोली कहा जाता था, कहीं-कहीं हिंदुई इसी बाजार के विकास के साथ विकसित हुई। अमीर खुसरो और कबीर इस भाषा को अपनी अभिव्यक्ति के लिए यदा-कदा प्रयोग करते दिखाई देते हैं। कबीर में तो 'बाजार' शब्द भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। यथा

'कबीरा खड़ा बजार में, सबकी मांगे खैर
ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर।
कबीरा खड़ा बजार में, लिए लुकाठी हाथ
जो घर जारै आपना, चलै हमारे साथ।'

यह बाजार में कवि उपस्थिति के साथ ही बाजार की हिंदी का प्रारंभिक रूप भी है। भारत में अंग्रेजीराज के स्थापित होने के साथ-साथ अठारहवीं शताब्दी में कलकत्ता एक बड़े बाजार के रूप में स्थापित हुआ। सन 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई और हिंदी के पाठ तैयार करने के लिए जॉन गिलक्रिस्ट ने इंशा अल्ला खां, सदल मिश्र, लल्लू लाल एवं मुंशी सदासुख लाल को नियुक्त किया। इन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' (जो हिंदी की पहली कहानी है), प्रेम सागर, सुख सागर एवं नासिकेतोपाख्यान की रचना हिंदी गद्य में की। कलकत्ता के बीचों-बीच हिंदी भाषी क्षेत्र के व्यापारियों ने जो उद्योग-व्यापार विकसित किया, उसका नाम ही है बड़ा बाजार। यहीं से हिंदी का पहला समाचार पत्र 'उदन्त मार्तंड' 1827 में प्रकाशित हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र के पूर्वज कलकत्ता में रहते थे, बाद में वे बनारस आए। बनारस में उनका बड़ा जमा-जमाया व्यवसाय था। उनकी हिंदी भी उसी बाजार में पुष्पित-पल्लवित हुई।

राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का एक परम लक्ष्य था कि हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में देशव्यापी बनाना। राष्ट्रीयता और हिंदी की यह लहर सबसे पहले कलकत्ते से उठी। कलकत्ते के एक बंगाली लेखक काली प्रसन्न काव्यविशारद हिंदी में 'हितवार्ता' निकालते थे। उन्होंने 1906 ई. में हिंदी में एक नवजागरण का गीत लिखा था

'भैया देश का यह क्या हाल?
खाक मिट्टी जैहर होती सब, जौहर है जंजाल।'

सुनीति कुमार चाटुर्ज्या बताते हैं कि यह गीत बंगाली लड़कों और युवकों द्वारा कलकत्ते की और तमाम बंगाल की सड़कों पर गाया जाता था। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'वंदे मातरम' का हिंदी में अनुवाद कर 1906 ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था, जिसका गायन देश भर में हुआ करता था। इसकी पंक्तियां यहां प्रस्तुत हैं :

'वन्दे मातरम्!
पानी की कुछ कमी नहीं है, हरियाली लहराती है
फल और फूल बहुत होते हैं, रम्य रात छवि छाती है
मलयानिल मृदु-मृदु बहती है, शीतलता अधिकारी है
सुखदायिनि वरदायनि तेरी मूर्ति मुझे अति भाती है

वंदे मातरम्!
तीस कोटि लोगों की कलकल सुनी जहां पर जाती है
उसकी दुगुन खंग-धारा की द्युति-विकास जहां पाती है।
तिसपर भी 'तू अबला है' यह बात व्यथा उपजाती है
हे तारिनि! हे बहुबल धारिनि! रिपु तू काल गिराती है
वंदे मातरम्!
तू ही धर्म्म, कर्म्म भी तू ही, तू ही विद्यावानी है
तू ही हृदय, प्राण भी तू ही, तू ही गुण-गण खानी है
बाहु शक्ति तू ही मम, तेरी भक्ति महामन मानी है
प्रति घट, प्रति मंदिर के भीतर तू ही सदा समानी है
वंदे मातरम्!'

1920 ई. के पहले पूरे देश भर में द्विवेदीजी का यह काव्यानुवाद गाया जाता था। महात्मा गांधी और सुभाष चंद्र बोस दो ऐसे राष्ट्रीय नेता थे, जो अहिंदी भाषी होते हुए भी देश भर में हिंदी के प्रचार-प्रसार में जुटे रहे। अनेक भाषा-भाषी प्रांतों में हिंदी का प्रचार-प्रसार उन्हें एकता की डोर में बांध रहा था और साथ ही राष्ट्रीयता की भावना भी भर रहा था। यही कारण है कि भारत में अंग्रेजीराज की इतनी मजबूत जड़ें थीं, जो लगातार कमजोर होती गईं और अंग्रेजी का बाजार सिमटता गया तथा हिंदी का बाजार बढ़ता गया।

स्वाधीनता-संघर्ष के दौरान हिंदी को प्रचलन में लाना, उसमें कुछ लिखना, हिंदी की पुस्तकें या पत्र-पत्रिकाएं पढ़ना देश-प्रेम का ही एक उदाहरण था। इसीलिए प्रारंभिक दौर के कवि वाचिक परम्परा की कविताएं लिख रहे थे। कथा-साहित्य में रोचकता, भाषा का प्रवाह और कथा कहने की आदिम प्रवृत्ति उसे अपार जनमानस से जोड़ रही थी। यही कारण है कि देखते ही देखते हिंदी एक विशाल परिदृश्य में समादृत हो गई। उसका बाजार तेजी से फैला। हिंदी में अनेक रचनाकार प्रकट हुए जिनका जीविकोपार्जन हिंदी की सेवा से ही होता था।

यह हिंदी भारत में शहरीकरण के साथ-साथ तेजी से फैलती गई। यह भारतीय जनमानस में एक संपर्क भाषा के रूप में लगातार विकसित होती गई। इसी हिंदी को रेणु ने 'कचराही हिंदी' कहा है। कचहरी में विभिन्न गांवों के लोग केस-मुकद्दमा के लिए आते हैं और अपनी लोकभाषाओं के शब्दों को मिलाकर खड़ी बोली बोलते हैं। रेणु ने अपने कथा-साहित्य में इसी हिंदी का प्रयोग किया है। इस कचराही हिंदी के समावेश से राष्ट्रभाषा हिंदी संपन्न हुई है, इसका विस्तार हुआ है। इस तरह हिंदी का बाजार इतना मजबूत और सर्वग्राही हो गया कि उपनिवेशवादी मानसिकता धाराशाई हो गई। बाजार में हिंदी की पताका लगातार ऊंचाई पर फहराती रही है।

कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी का निर्माण एवं विकास भारत में बाजार या शहरों के निर्माण एवं विकास के साथ-साथ हुआ। यूरोप के एक यात्री पिएट्रो डेल्लावेल्ला सत्रहवीं शताब्दी में भारत आए थे एवं 1663 ई॰ में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित हुई 'इंडियन ट्रेवेल्स'। इसमें उन्होंने लिखा है 'हिन्दुस्तानी पूरे हिन्दुस्तान में वैसे ही प्रचलित है, जैसे यूरोप में लैटिन। उसकी लिपि देवनागरी है।'

निरंतर विकासशील हिंदी की उर्जा या शक्ति उसका लोकभाषाओं से घना और गहरा संबंध होने के कारण बरकरार है। हिंदी की जीवंतता उसकी तरलता, सरलता और प्रवाह के कारण लगातार बनी रही है। उसमें विभिन्न जीवन-संस्कृतियों, विभिन्न प्राचीन एवं वर्तमान भाषाओं तथा बोलियों के शब्द इस प्रकार घुले-मिले हैं कि उन्हें अलगाया नहीं जा सकता। हिंदी के बेहद सजग कवि निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' जैसी तत्समधर्मी कविता लिखी, पर उसमें फारसी का शब्द 'मशाल' इतनी सहजता से प्रयुक्त हो गया है कि कहीं खटकता नहीं। कारण यह है कि 'मशाल' का कोई दूसरा पर्यायवाची शब्द नहीं है, कबीर की 'लुकाठी' भी इसका विकल्प नहीं है। अपनी सर्वग्राही शक्ति के कारण ही हिंदी हर जगह फैलती गई और लोकप्रिय होती गई। साथ ही अनेक स्वरों, अनेक रूपों की हिंदी का प्रचलन अलग-अलग जगहों में शुरू हुआ। आज पंजाबी हिंदी, बंगाली हिंदी, बंबइया हिंदी, बिहारी हिंदी, हैदराबादी हिंदी, भोपाली, हरियाणवी हिंदी आदि को उसके स्वरों से हम पहचान लेते हैं। हर जगह की हिंदी में वहां की स्थानीय भाषा की गंध मिलेगी। फणीश्वरनाथ रेणु ने पहली बार अपने कथा-साहित्य में अपने अंचल के लोगों की भाषा की गंध को हिंदी में प्रस्तुत किया।

मैंने यह पहले ही बताया कि जो हिंदी बाजार के निर्माण-प्रक्रिया के साथ विकसित हुई, धीरे-धीरे उसका भी बाजार बनने लगा। एक समय ऐसा था, जब लोग घर फूंक मस्ती के साथ पत्र-पत्रिकाएं निकाला करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमधन, राजा रामपाल सिंह, बालमुकुंद गुप्त आदि लेखकों ने पत्र-पत्रिकाएं निकालीं और जिंदगी भर फटेहाली में रहे। कारण यह था कि उस वक्त हिंदी का बाजार पूरी तरह निर्मित नहीं हुआ था। पहली बार 'चंद्रकांता संतति' ने यह प्रमाणित किया कि रोचक, रोमांचक और दिलचस्प कथाओं का एक बाजार बन सकता है। इस क्रम में अनेक लेखक और उनकी कथा-कृतियों ने प्रकाशन को एक व्यवसाय के रूप में विकसित किया। फिर देश भर में हिंदी साहित्य के पठन-पाठन ने भी गंभीर पुस्तकों के प्रकाशन के व्यवसाय को जीवित रखा। आज कई प्रकाशक बाजार की मांग को देखते हुए पॉकेट-बुक्स उपन्यास छापते हैं, जिसकी बिक्री लाखों में होती है।

हिंदी के बाजार को हिंदी सिनेमा ने और भी विस्तार दिया। सिनेमा एक ऐसा माध्यम है, जहां कथाकार, गीतकार, संगीतकार, संपादक, निदेशक आदि अनेक कलाकारों की जरूरत होती है। जहां सबसे अधिक धन है। महान कथाकर प्रेमचंद, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु और कमलेश्वर जिससे जुड़ते हैं। इसी क्रम में इन कवियों के भी नाम हम ले सकते हैं नरेन्द्र शर्मा, गोपाल सिंह नेपाली, शैलेंद्र, हसरत, साहिर लुधियानवी, जावेद अख्तर जैसे कवि-गीतकार। कभी भवानी प्रसाद मिश्र ने लिखा था "जी हां हुजूर, मैं गीत बेचता हूं।" और साहिर ने लिखा था

'आज उन गीतों को बाजार में ले आया हूं
मैंने जो गीत तेरे प्यार की खातिर लिखे।'

अर्थात कहानियों और गीतों का फिल्मों में एक बाजार निर्मित हुआ। यह हिंदी का बाजार है, जहां भाषा अनेक आयामों में दृश्यगत होती है।

आज भूमंडलीकरण के दौर में बाजार की अवधारणा ने यह स्थापित कर दिया है कि भारत में अंग्रेजी का नहीं, हिंदी का बाजार है। आज जितने विदेशी चैनल दूरदर्शन पर दिखलाए जा

रहे हैं, वे पहले अंग्रेजी में थे, पर धीरे-धीरे पूरी तरह हिंदी के हो गए। इसका कारण यह था कि अंग्रेजी के यहां श्रोता-दर्शक मात्र दो-तीन प्रतिशत ही हैं। इसीलिए उन्हें 'डिस्कवरी' एवं 'नेशनल ज्योग्रेफिक' के तमाम कार्यक्रमों को हिंदी में डब करना पड़ा।

कुछ लोग सवाल उठा सकते हैं कि क्या इससे हिंदी 'बाजारू' नहीं हो गई है? उसका रूप बिगड़ नहीं गया है? उसमें भदेसपन नहीं आ गया है? उस पर व्यावसायिकता का दबाव नहीं बढ़ गया है? ये सवाल अपनी जगह सही हैं। पर बाजार की एक ही शर्त है जो बिकेगा, वही टिकेगा! आप देखें कि आज मीडिया में, सिनेमा में, दूरसंचार में हिंदी ने भारत के बाजार में अंग्रेजी को पटखनी दे दी है। भले राजभाषा के रूप में वह दूसरे स्थान पर रहे, पर जन-जीवन में उसी की धुन बजती रहेगी।

❐❐

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का चिंतन

ओमप्रकाश सिंह

प्रो. ओमप्रकाश सिंह, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली द्वारा 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल के चिंतन की चुनौतियां' विषय पर महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में दिनांक 20 मई 2013 को साहित्य विद्यापीठ में दिया गया व्याख्यान। यह महत्वपूर्ण व्याख्यान पाठकों के लिए अविकल रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है :

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के चिंतन की चुनौतियों को समझने से पहले यह समझना जरूरी है कि उनका चिंतन क्या है, किन-किन क्षेत्रों में है और आचार्य रामचंद्र शुक्ल कौन थे? आचार्य रामचंद्र शुक्ल के चिंतन को समझने के लिए हम उनका 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पढ़ते हैं। कुछ समझते हैं और कुछ नहीं समझते हैं। जो नहीं समझते हैं, उसे समझने के लिए दूसरे साहित्य के इतिहासकारों की तरफ घूमते हैं और उनके माध्यम से साहित्य की स्थापनाओं को समझने की कोशिश करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के चिंतन की चुनौतियों को समझने के लिए अगर व्याख्यानमाला आयोजित की जाए और कई लोग बोलें तो कुछ बात बन सकती है।

20वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में जोरदार ढंग से यह बात चली कि साहित्य के समाजशास्त्र पर गंभीर बात की जाए। साहित्य के समाजशास्त्र की एक मूल स्थापना यह भी है कि हम जिस रचनाकार को पढ़ रहे हैं उसको जानें कि वह कौन है, क्या है? उसके व्यक्तित्व का विकास किस तरह हुआ है। कहा जाता है कि साहित्य By- product है। मैं थोड़ा सा शब्द बदलूंगा कि साहित्य की तरह चिंतन भी By-product है। हमें जिस तरह का संस्कार और परिवेश मिलता है, हमारा चिंतन उसी ओर जाता है। कहा जाता है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी के पहले आलोचक हैं। मैं थोड़ा सा बदल कर कहूंगा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी आलोचना के पहले व्यवस्थित आलोचक हैं। वे हिंदी सैद्धांतिक आलोचना के पहले और अंतिम आलोचक हैं। उनके बाद हिंदी में सैद्धांतिक आलोचना के बारे में किसी ने कुछ नहीं लिखा, उनको दोहराया तक नहीं। आज हम इतिहास दर्शन पढ़कर परिपक्व हो गए हैं। बिना इतिहास दर्शन पढ़े हिंदी साहित्य को जो शुक्लजी ने ढांचा दिया, आज तक हम उस ढांचे को तोड़ नहीं पाए हैं। आचार्य शुक्ल को

पढ़ते हुए हम उलझ जाते हैं। हम उनके बरक्स हजारीप्रसाद द्विवेदी को रख देते हैं। भक्तिकाल, रीतिकाल और छायावाद पर आचार्य शुक्ल के लेखन पर बात करते हैं। इस क्रम में शायद हम उनके साथ न्याय नहीं करते हैं। आचार्य शुक्ल ने कबीर पर बहुत कम लिखा है, पर जो लिखा है वह बहुत महत्वपूर्ण है। खैर, इन सब चीजों पर हम बाद में आएंगे। पहले मैं शुक्लजी के जीवन के दो तीन प्रसंगों की चर्चा करना चाहूंगा जिनका उनके चिंतन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। आप सब जानते हैं कि आचार्य शुक्ल का जन्म 1884 ई. में बस्ती जिले के अगौना नामक गांव में हुआ था। वे वहां के थे नहीं। उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले मे भेड़ी गांव है। यह गांव शुक्ल लोगों का डीह स्थान है। इनके पूर्वज वहां रहते थे। उनकी दादी आजी पढ़ी लिखी स्वाभिमानी विधवा थीं। विधवा की तरह जीवन व्यतीत कर रही थीं। एक लिबास में रहना, कहीं आना जाना नहीं, एक समय खाना खाना, खाना बनाते समय बिना सिले हुए वस्त्र पहनना। इसी तरह एक दिन वे धोती लपेटे हुए वे खाना बना रही थीं। घर में एक कंगन की चोरी हुई थी। कुछ स्थितियां ऐसी बनी कि कहीं से उन्हें भनक लगी कि उस चोरी का आरोप उन पर लग रहा है। वह चोरी के आरोप से तमतमा उठीं और घर से बाहर निकल आईं और पैदल ही चल दीं। गांव घर के लोग मनाने गए लेकिन उन्होंने कहा 'नहीं, अब नहीं, अब मैं इस गांव का पानी तक नहीं पिऊंगी। वहां से वे पुत्र चंद्रबली सिंह के साथ बस्ती आ गईं। बस्ती जिले की राजमाता उनकी सहेली थीं। उन्हीं के यहां गई। उन्हें जब पूरी बातें पता चलीं तो उन्होंने आचार्य शुक्ल की आजी से वहीं रहने का प्रस्ताव दिया लेकिन उन्होंने कहा कि वे वैसे नहीं रहेंगी, मेहनत-मजदूरी करके रहेंगी। अपना खर्च स्वयं चलाएंगी। इसके बाद राजमाता ने उन्हें 80 बीघा सीरमाफी जमीन दी और अगौना में बसा दिया। धीरे-धीरे यह परिवार वहीं बस गया। वहीं पर उन्होंने सपत्नी को भी बुला लिया। शुक्लजी के पिताजी राजकुमार के साथ पढ़ने लगे। वहीं शुक्लजी का जन्म हुआ था और चार पांच साल की उम्र तक वे वहीं रहे। शुक्लजी के पिताजी कानूनगो थे। मुसलिम संस्कृति में पूरी तरह रचे बसे थे। कहा तो यह जाता है कि वे नमाज भी पढ़ते थे। मुझे ऐसा लगता है कि उस समय मुस्लिम तौर तरीके से जीवन जीना शान की बात समझी जाती थी। वहां से उनके पिताजी का तबादला नजदीक के हमीरपुर जिले के राठ में हो गया। शुक्लजी की शिक्षा दीक्षा राठ से शुरू हुई। वहां से उनके पिताजी का तबादला मिर्जापुर हो गया। वे मिर्जापुर पदभार ग्रहण करने गए उसी समय शुक्लजी की माता का देहांत हो गया। राठ में ही वे जलाई गईं। शुक्लजी पितामही की छत्रछाया में ही पूरी तरह से पले बढ़े। शुक्लजी उन्हें 'दूधू मां' कहते थे और लोग उन्हें 'बच्ची साहब' कहते थे। पितामही पूरी तरह हिंदू संस्कारों का पालन करती थीं। रामचरितमानस, भागवत, महाभारत का पाठ नियमित रूप से करती थीं और इन्हीं की कहानियां सुनाया करती थीं। शुक्लजी के चिंतन पर उनकी सुनाई कहानियों का बहुत प्रभाव है।

शुक्लजी चित्रकार भी थे। नौकरी की शुरुआत उन्होंने मिर्जापुर में ड्राइंग टीचर के रूप में की थी। शुक्लजी ने दो काम जीवन भर किया। चित्रकार के रूप में शुक्लजी एक चित्र जीवन भर बनाते रहे, वह चित्र था राम वनगमन का। राम, लक्ष्मण और सीता वन जा रहे हैं। इस चित्र को वे अपने सिरहाने रखते थे और जीवन भर उसमें कुछ न कुछ जोड़ते रहे लेकिन पूरा नहीं कर पाए। ग्रंथावली में मैंने वह चित्र दिया है, चित्र अब अनुपलब्ध है मगर मुझे कहीं से उसकी

प्रति उपलब्ध हो गई थी। घर से दूधू का निकलना और अयोध्या से राम का निकलना ये दोनों शुक्लजी के चिंतन को कहीं न कहीं से प्रभावित करते हैं। आज हम शुक्ल को कभी वर्णाश्रमी कहते हैं, कभी जातिवादी कहते हैं, कभी कबीर का घोर निंदक कहते हैं और तुलसी का घोर प्रशंसक कहते हैं। हम कुछ भी कहें पर शुक्ल के व्यक्तित्व और चिंतन के निर्माण में इन घटनाओं के योगदान को अवश्य देखें।

शुक्लजी के पिताजी नहीं चाहते थे कि वे हिंदी पढ़े। मिर्जापुर में शुक्लजी की एक मित्र मंडली थी। उन्हीं के साथ वे रहते थे और धोती पहनते थे। यह उनके पिता को नागवार गुजरता था। वे कहते थे-'ये हरामजादा बेशऊरों में वशिष्ठ बना घूमता है'। शुक्लजी के पिताजी सदर के कानूनगो थे। उस समय वहां के कलक्टर विंढम थे। उन्होंने शुक्लजी के पिताजी को एक नक्शा बनाने के लिए दिया। नक्शा शुक्लजी ने बनाया। विंढम के पूछने पर उन्होंने बताया कि नक्शा बेटे ने बनाया है। विंढम ने शुक्लजी को बुलाया। शुक्लजी गए पर उन्हें यह बुरा लगा कि विंढम को बहुत झुक कर सलाम करना पड़ा। उस समय तहसीलदारी के लिए कलक्टर नाम प्रस्तावित करता था। विंढम ने शुक्लजी का नाम प्रस्तावित कर दिया। शुक्लजी जब विंढम के पास से लौट कर आए तो उन्होंने अंग्रेजी में एक लेख लिखा 'What has India to do'. 'भारत को क्या करना चाहिए'। भारत उस समय गुलाम था। उस लेख का परिणाम यह हुआ कि विंढम ने उनका नाम तहसीलदारी से वापस ले लिया और यह लिख दिया कि इस आदमी को जीवन भर सरकारी नौकरी न दी जाए। अब शुक्लजी की स्थिति यह थी कि वे सरकारी नौकरी कर नहीं सकते थे, पढ़ाई ज्यादा की नहीं थी, पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था, विमाता से बनती नहीं थी। ऐसी स्थिति में शुक्लजी की व्यवस्थित पढ़ाई तो नहीं हो सकती थी, लेकिन इनका स्वाध्याय गंभीर रूप से चलता रहा।

शुक्लजी के चिंतन के निर्माण में बनारस से अधिक मिर्जापुर का योगदान है। अपने लेखन की शुरूआत उन्होंने मिर्जापुर से की थी। मिर्जापुर उन्हें बड़ा प्रिय था। उन्होंने अपनी अंतिम इच्छा व्यक्त की थी कि लोग काशी में मरकर मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं पर वे मिर्जापुर में मरना चाहते हैं। उन्होंने लिखा कि मरते समय मिर्जापुर की पहाड़ियां, वहां की हरियाली दिखाई देती रहें, यही मेरी अंतिम आकांक्षा है। सरकारी नौकरी न मिलने की बात पर पिता बहुत नाराज हुए। उन्हें घर से निकाल दिया। वे अगौना जाकर रहने लगे, शिक्षा से कट गए। उस समय उनका साथ उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने दिया। वे 'आनंदकादंबिनी' पत्रिका निकालते थे। उन्होंने 1903 ई. में 'आनंदकादंबिनी' का संपादक बनाकर शुक्लजी को मिर्जापुर बुला लिया। वे 'आनंदकादंबिनी' का संपादन करने लगे। वे कविताएं भी लिखते थे। उनका एक काव्य संग्रह 'मधुस्रोत' है। वे अंग्रेजी में लेख लिखते थे और जमकर अंग्रेजी पढ़ते थे। रामगरीब चौबे ने उन्हें अंग्रेजी की तरफ प्रेरित किया, जो अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे रामप्रसन्न घोष (बंगमहिला के पिता) के संपर्क में आए। रामप्रसन्न घोष मिर्जापुर की मेयो लाइब्रेरी के लाइब्रेरियन थे। शुक्ल के परिवार से उनका घनिष्ठ संबंध था। शुक्लजी ने मेयो लाइब्रेरी की सारी अंग्रेजी की पुस्तकें पढ़ डालीं। आपलोगों ने भवदेव पांडेय का नाम सुना होगा! उन्होंने रामचंद्र शुक्ल और बंगमहिला पर लिखा है। भवदेव पांडेय को यह लगता था कि रामचंद्र शुक्ल और

बंगमहिला में रागात्मक संबंध था। वे खुलकर तो इस बात को नहीं कह पाए मगर उनके लेखन में जगह-जगह इस बात की झलक मिलती है। बंगमहिला ने 'दुलाईवाली' कहानी लिखी थी। यह कहानी पर्दा प्रथा के विरोध में लिखी गई पहली कहानी है। वे बाल विधवा थीं और उनकी खुद की हालत यह थी कि उनके कमरे में एक पर्दा टंगा रहता था। वे उस पर्दे की आड़ से ही किसी से बात कर सकती थीं। भवदेव पांडेय ने यह नहीं सोचा कि बंगमहिला ने शुक्लजी की पत्नी को बंगला सिखाई थी। अगर रामचंद्र शुक्ल और बंगमहिला में वैसे संबंध होते जिसकी तरफ भवदेव पांडेय ने इशारा किया है तो बंगमहिला और शुक्लजी की पत्नी में न पटती। इसके विपरीत बंगमहिला ने शुक्लजी की पत्नी को इतनी बंगला सिखा दी थी कि उन्होंने कई बंगला उपन्यासों का अनुवाद भी किया था। खैर, रामचंद्र शुक्ल के जीवन से जुड़े कुछ प्रसंगों की चर्चा करने से मैं अपने आपको रोक नहीं पा रहा हूं। मिर्जापुर में ही उनका परिचय एक ऐसे व्यक्ति से हुआ जो विज्ञान, ज्योतिष, व्याकरण, संस्कृत आदि के ज्ञाता थे, नाम था उनका विंदेश्वरी प्रसाद। कुछ ऐसे भी लोग थे जो पशु प्रेमी थे। रात में वे पूड़ियों का खोमचा बांधकर निकलते थे और कुत्तों को बांटते थे। जब वे घर से निकलते तो सारे कुत्ते उनके पीछे-पीछे चलते। एक दिन कुत्तों को दौड़ाते हुए वे विंढम साहब के बंगले तक पहुंचे। कुत्तों ने बहुत उपद्रव मचाया। होली का दिन था, यह खोज होने लगी कि वह व्यक्ति कौन था। शुक्लजी के विनोदी स्वभाव में कहीं न कहीं उस व्यक्ति का योगदान था। शुक्लजी के गंभीर व्यक्तित्व के निर्माण में रामगरीब चौबे की अंग्रेजी, रामप्रसन्न घोष द्वारा उपलब्ध कराई गई अंग्रेजी की किताबों का योगदान था। इस तरह शुक्लजी के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। 1908 ई. में शुक्लजी बनारस आए। उस समय नागरी प्रचारिणी सभा से 'हिंदी शब्दसागर' का संपादन हो रहा था। शुक्लजी 'हिंदी शब्दसागर' के सहायक संपादक नियुक्त किए गए। 'हिंदी शब्दसागर' के प्रधान संपादक श्यामसुंदर दास थे। इनके अलावा कई और सहायक संपादक थे। 'हिंदी शब्दसागर' का प्रकाशन 11 खंडों में हुआ। धीरे-धीरे सभी सहायक संपादक हटते गए और अंत में केवल श्यामसुंदर दास और रामचंद्र शुक्ल बच गए। 'हिंदी शब्दसागर' के निर्माण में मुख्य रूप से रामचंद्र शुक्ल ने ही काम किया। श्यामसुंदर दास ने आत्मकथा में यह स्वीकार करते हुए लिखा भी है कि आचार्य शुक्ल ने शब्दसागर बनाया और शब्दसागर ने आचार्य शुक्ल को।

मिर्जापुर मे रहते हुए ही आचार्य शुक्ल ने दो महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी लेखों का अनुवाद किया था। इनमें से पहला है-'ऐसे आन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनंद' शीर्षक से किया गया अनुवाद और दूसरा है न्यू मैन के 'आइडिया ऑफ ए यूनिवर्सिटी' के 'लिटरेचर' नामक निबंध का 'साहित्य' शीर्षक से किया गया अनुवाद। 'साहित्य' शीर्षक से शुक्लजी ने अनूठा अनुवाद किया है। दरअसल 'लिटरेचर' के आधार पर लिखा गया यह उनका स्वतंत्र निबंध है। शुक्लजी मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे 'लोभ और प्रीति', 'क्रोध', 'श्रद्धा और भक्ति' आदि। उसी काल में जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' का लेखन मनोविकारों के आधार पर किया। ध्यान दीजिए कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि कल्पना और मनोविकार इन दोनों के आधार पर ही साहित्य का निर्माण होता है। उनका सबसे महत्वपूर्ण निबंध जो उनके चिंतन की बुनियाद है 'कविता क्या है' है। यह निबंध 1907-1908 ई. में मिर्जापुर में लिखा गया और 1909 ई. की 'सरस्वती' में छपा।

इस निबंध को शुक्लजी जीवन भर लिखते रहे। इसके तीन संस्करण छपे। तीनों संस्करणों को मैंने ग्रंथावली में दिया है। पहला संस्करण नौ पेज का है और तीसरा सत्ताइस पेज का। इसका मतलब यह है शुक्लजी जैसे जैसे उस विषय पर सोचते गए, निबंध को बढ़ाते गए। इसी निबंध में कविता की परिभाषा मिलती है और साहित्य के बारे में जानकारी भी। इसी निबंध को पढ़कर हम साहित्य के मर्म को समझ सकते हैं। शुक्लजी के अनुवाद 'कल्पना का आनंद' और 'साहित्य' तथा 'कविता क्या है' निबंध से आलोचना की शब्दावली निकालने पर उनका चिंतन खड़ा हो जाता है। क्षात्र धर्म का सौंदर्य, लोकमंगल, रसदशा, आत्मा की मुक्तावस्था, हदय की मुक्तावस्था, विरुद्धों का सामंजस्य जो उनके चिंतन के केंद्रबिंदु बने, उनके आधार ये ही निबंध हैं। शुक्लजी ने सभी मनोवैज्ञानिक निबंध सभा में काम करते हुए लिखे थे, लेकिन वे छपे बहुत बाद में 1930 ई. मे 'विचारवीथी' के नाम से।

1919 ई. में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त होने के साथ शुक्लजी के जीवन में निर्णायक मोड़ आया। वहां शुक्लजी की नियुक्ति अंग्रेजी माध्यम से हिंदी निबंध पढ़ाने के लिए हुई। उस समय अंग्रेजी माध्यम से बी.ए. में हिंदी पढ़ाई जाती थी। एम.ए. में हिंदी की पढ़ाई 1923 ई. में शुरू हुई। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध को मालवीयजी ने पढ़ाने के लिए बुलाया लेकिन वे नहीं जानते थे कि हरिऔधजी को अंग्रेजी बिल्कुल नहीं आती है। हरिऔधजी 20-30 साल पहले विधुर होकर वीतरागी हो चुके थे। जब मालवीयजी ने देखा कि हरिऔधजी विभाग में नहीं चल पा रहे हैं तो उन्हें महिला महाविद्यालय में भेज दिया। हरिऔधजी वहां जाना नहीं चाहते थे पर महामना की आज्ञा का उल्लंघन भी नहीं कर सकते थे। इसीलिए वे अवैतनिक रूप से महिला महाविद्यालय में पढ़ाते रहे और कुढ़ते रहे। रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी पढ़ाते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास की जरूरत महसूस की। शुक्लजी से पहले गार्सा द तासी का 'इस्तवार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी', शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज', जार्ज ग्रियर्सन का 'द मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान और मिश्रबंधु का 'मिश्रबंधु विनोद' आदि इतिहास ग्रंथ लिखे गए थे लेकिन ये सभी कविवृत्तसंग्रह है। इनसे शुक्लजी का इतिहास अलग था। उनके इतिहास का ढांचा चिंतन पर आधारित था।

शुक्लजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने साहित्य के इतिहास को जनता की चित्तवृत्ति से जोड़ा और व्यवस्थित काल विभाजन किया। इतना अवश्य है कि शुक्लजी की कुछ सीमाएं थीं। उस समय साहित्य के बहुत कम ग्रंथ उपलब्ध थे। कुछ ग्रंथ नोटिस मात्र थे। जाहिर सी बात है कि शुक्लजी को भी बहुत कम साहित्यिक पुस्तकों की जानकारी रही होगी। उन्हीं उपलब्ध जानकारियों के आधार पर उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास का ढांचा तैयार किया और पूरे इतिहास को चार भागों में बांटा। वीरगाथाकाल के पूर्व का जितना साहित्य है उन्हें उन्होंने सांप्रदायिक माना क्योंकि बौद्धों, जैनों का साहित्य अपने संप्रदाय की चर्चा से जुड़ा है इसीलिए उन्हें साहित्य से बाहर कर दिया। इसके अलावा शुक्लजी पता नहीं क्यों रहस्यवाद से बहुत चिढ़ते थे। जहां कहीं भी उन्हें रहस्यवाद दिखलाई पड़ता उसे वे इतिहास से निकाल बाहर करते। नाथों के यहां, सिद्धों के यहां उन्हे रहस्यवाद दिखाई दिया। रहस्यवाद को वे अभारतीय मानते थे, बाहर की वस्तु मानते थे। उसी कारण उन्होंने कबीर पर भी गंभीरता से विचार नहीं किया। शुक्लजी की इतिहास दृष्टि पर

विचार करते समय यह ध्यान देना आवश्यक है कि उन्होंने लोक को किस दृष्टि से देखा। उन्होंने 'लोक' के अंतर्गत केवल शिक्षित समुदाय की बात की, जबकि उस समय एक बड़ा समुदाय अशिक्षित था। बाद में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी अशिक्षित समुदाय को पकड़ा। ध्यान देने की बात यह है कि अगर शुक्लजी ने शिक्षित समुदाय की बात न की होती तो द्विवेदीजी को अशिक्षित समुदाय न दिखलाई देता। खैर इस तरह काल विभाजन कर के उन्होंने छात्रों को पढ़ाने के लिए जो नोट्स तैयार किए वही 'हिंदी शब्दसागर की भूमिका' बना। बाद में (1929 ई. में) वही 'हिंदी साहित्य का इतिहास' नाम से प्रकाशित हुआ। इसके पीछे भी दो तीन घटनाएं हैं। जिस तरह से शुक्लजी ने 'शब्दसागर की भूमिका' के लिए 'हिंदी साहित्य का विकास' लिखा उसी तरह श्यामसुंदर दास ने 'हिंदी भाषा का विकास' लिखा। श्यामसुंदर दास की यह इच्छा थी कि दोनों भूमिकाएं संयुक्त रूप से प्रकाशित हों और लेखक के रूप में दोनों का नाम छपे। शुक्लजी ने इसका घोर विरोध किया। यह कहा जाता है कि सभा में लाठी के बल पर रात में अयोध्यासिंह उपाध्याय ने जाकर इतिहास पर शुक्लजी का नाम छपवाया। हिंदी में उस समय श्यामसुंदर दास का बहुत दबदबा था। उतना दबदबा अपने जमाने में डॉ. नगेंद्र का भी नहीं रहा। शुक्लजी के इतिहास पर वीरगाथाकाल, भक्तिकाल और छायावाद पर प्रश्नचिह्न लगता है। इन सभी कालों को शुक्लजी की रहस्यवाद संबंधी धारणा से जोड़कर देखना चाहिए। जहां कहीं भी शुक्लजी को रहस्यवाद दिखलाई दिया वे भड़क उठे। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' 1929 ई. में छपा और उसका परिवर्द्धित, परिमार्जित रूप 1940 ई. में। ध्यान देने की बात है कि तब तक 'छायावाद' समाप्त हो चुका था। शुक्लजी के आलोचक छायावाद के संबंध में उनकी धारणा के बारे में बताते हुए लिखते हैं कि शुक्लजी ने निराला पर तीन पेज लिखा तो पंत पर तेरह पेज। शुक्लजी के चिंतन में 1929-30 के कालखंड को मैं बहुत महत्वपूर्ण मानता हूं। शुक्लजी ने 1929-30 के पहले क्या लिखा और बाद में क्या लिखा इसकी गंभीर जांच पड़ताल होनी चाहिए। लेकिन ऐसा हुआ नहीं है और हमारे गंभीर विद्वान लोग ऐसा होने देना नहीं चाहते। इसका कारण है कि यदि ऐसा हुआ तो शुक्लजी को फिर से पढ़ना होगा, उनके बारे में नई धारणाएं बनानी पड़ेगी। ऐसे में वे किस मुंह से अलग धारणाएं पढ़ाएंगे। हम तो उन्हें ब्राह्मणवादी, जातिवादी मानते रहे हैं तो अब हम कैसे कहें कि शुक्लजी वर्णाश्रमी नहीं थे। वैसे समस्या तो यह भी है कि हम कैसे कहें कि वे भौतिकवादी नहीं थे।

शुक्लजी के चिंतन का दायरा केवल साहित्य तक सीमित नहीं था। समाजविज्ञान, भाषाविज्ञान अन्य कलाएं, अनुवाद, कविता, कहानी इन तमाम चीजों तक फैला हुआ था। याद करिए और पढ़िए उनकी कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय', निबंध, कविताएं, अंग्रेजी लेख और अनुवाद। 'टा इंडिका' की चर्चा मैंने की ही है। इसके अलावा उन्होंने हैकेल की विश्वप्रसिद्ध पुस्तक 'रिडिल ऑफ युनिवर्स' का अनुवाद 'विश्वप्रपंच' नाम से किया था। रिडिल ऑफ युनिवर्स जब अंग्रेजी में प्रकाशित हुई तो उसे काफी विरोध सहना पड़ा। यह पुस्तक पादरियों के विरोध में लिखी गई थी। लेकिन शुक्लजी द्वारा उसके अनुवाद की नोटिस भी नहीं ली गई क्योंकि लोगों को कुछ ऐसी गंध आ रही थी कि इससे समाज के सोचने समझने की क्षमता दूसरे ढंग से विकसित होगी। 20वीं शताब्दी का समय विज्ञान और पौराणिक कथाओं या हृदय और बुद्धि

के द्वंद्व का समय है जैसा कि 'कामायनी' में मिलता है 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय'। हम यह मान कर चलते हैं कि सृष्टि का विकास मनु और श्रद्धा से हुआ। हैकेल इस बात का विरोध करता है। वह सृष्टि के विकास के दैवीय सिद्धांत को नहीं मानता है। उसके अनुसार सृष्टि के विकास का वैज्ञानिक और प्राणिशास्त्रीय सिद्धांत है। आगे चलकर वानर से मानव के विकास की बात की गई। शुक्लजी ने सृष्टि के वैज्ञानिक विकास की बात की। शुक्लजी के विरोध में कहा जाता है कि उन्होंने अंग्रेजों की नकल की। अगर उन्होंने नकल भी की है तो यह एक सराहनीय प्रयास है और यह शुक्लजी जैसा चिंतक ही कर सकता था। शुक्लजी ने सृष्टि के विकास, आकाश का नीला रंग आदि पर लंबा निबंध लिखा, 'ईथर की भंवर और संसार की उत्पत्ति' लिखा। कहां लेखन का इतना वैविध्य और हम घूम फिर कर उसी 'हिंदी साहित्य का इतिहास', कबीर, प्रसाद, पंत और निराला पर बात करते हैं। शुक्लजी ने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' का संशोधित संस्करण तैयार किया था। वह दो बार गायब हो गया। एक बार गायब होने के बाद शुक्लजी ने उसे दोबारा लिखा। निराला पर शुक्लजी की मान्यता में अंतर आया था। पहले उनके संबंध खराब थे पर बाद में बहुत अच्छे हो गए थे। आप इसी बात से समझ लीजिए कि शुक्लजी की मृत्यु पर जैसी शोक कविता निराला ने लिखी है, वैसी आज तक किसी की मृत्यु पर नहीं लिखी गई है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का संशोधित संस्करण उनके घर पर पड़ा था। शुक्लजी की मृत्यु के बाद उनके नौकर ने रद्दी समझकर बेच दिया। जब तक घरवालों को पता चला और वे उसे बचाने पहुंचे तब तक उसके ठोंगे बन चुके थे और उसमें चना-मूंगफली बिक चुकी थी। पंजाब के विद्यार्थियों के लिए शुक्लजी ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' का पंजाब संस्करण तैयार किया था। आज हम जो इतिहास पढ़ते हैं उसका आधुनिक काल उसी पंजाब संस्करण से लिया गया है। इसलिए हमें 3 और 13 पेज की विसंगतियां मिलती हैं। शुक्लजी 'रसमीमांसा' पुस्तक पूरी नहीं कर पाए थे। उसके लिए उन्होंने नोट्स लिए थे। उसी नोट्स को विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संपादित कर छाप दिया। उस समय हिंदी जिस संघर्ष की स्थिति से गुजर रही थी, उस पर भी शुक्लजी ने निबंध लिखे हैं। मैं तीन और अंग्रेजी निबंधों का नाम लूंगा 'What has India to do', 'State of the vernacular', 'Observation on Hindi Literature'. 'Observation on Hindi Literature' पढ़ते समय शुक्ल जी के इंदौर वाले भाषण को याद करें। दूसरी तरफ State of the vernacular 'देशी भाषाओं की स्थिति' निबंध है। यह निबंध देशी भाषाओं की तत्कालीन स्थिति पर आधारित है। शुक्लजी देशी भाषाओं की स्थिति से दुखी थे। उनका एक मशहूर लेख है 'Hindi & the Musalmans' जो उस समय के प्रसिद्ध पत्र 'लीडर' में प्रकाशित हुआ था। उस पर आलोचक ध्यान नहीं देते हैं। जिस समय मुसलमानों ने हिंदी का विरोध किया था उस समय वह लेख उनसे 'सरस्वती' के संस्थापक चिंतामणि घोष ने लिखवाया था। उनका एक और लेख है 'Non cooperation & merchantile classes'. यह लेख गांधीजी के असहयोग आंदोलन के विरोध में लिखा गया था। इस लेख में शुक्लजी ने यह विरोध जताया था कि गांधीजी छात्रों से कह रहे हैं स्कूल छोड़ दीजिए, शिक्षकों से कह रहे हैं नौकरी छोड़ दीजिए, वकीलों से कह रहे हैं वकालत छोड़ दीजिए, अन्य नौकरीपेशा लोगों से कह रहे हैं नौकरी छोड़ दीजिए, व्यापारियों से क्यों नहीं कह रहे हैं कि व्यापार छोड़

दीजिए। बनियों से अगर व्यापार छोड़ने को नहीं कह रहे तो कहीं बनियों के साथ इनकी कोई साठ-गांठ तो नहीं है। उस लेख का गांधीजी पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने असहयोग आंदोलन की अपनी रणनीति बदल दी और बनारस में मालवीयजी के घर शुक्लजी को बुलाकर उनसे मुलाकात की।

आज हम शुक्लजी पर कई आक्षेप लगाते हैं। शुक्लजी की ग्रंथावली पर काम करते हुए मुझे कुछ ऐसे लेख मिले जो अंग्रेजी में और शुक्लजी की हस्तलेख में हैं। उसे मैंने उसी रूप में ग्रंथावली में दिया भी है जिससे लोग शक न करें कि ये शुक्लजी के लेख नहीं हैं। उनमें एक बड़ा मशहूर लेख है 'Cast System', जिसे वे पूरा नहीं कर पाए थे। जो लोग शुक्ल को जातिवादी कहते हैं उन्हें यह समझना चाहिए कि इस लेख में उन्होंने यह लिखा है कि ब्राह्मणों ने तो अपनी श्रेष्ठता का ठेका ले रखा है। आचार्य शुक्ल ब्राह्मणों के इस ठेके की चर्चा करते हुए जाति व्यवस्था के निचले पायदान तक चले जाते हैं। वे जोर देते हैं कि हमें उन लोगों पर भी विचार करना चाहिए जो जाति च्युत हैं, जाति से निकाले गए हैं, जो बिरादरी में नहीं हैं। उन्हें कैसे सम्मान दें। कोई दो राय नहीं है कि शुक्लजी ब्राह्मण थे, हिंदू थे। उन्हें पितामही द्वारा हिंदू संस्कार भी मिला था लेकिन उन्हीं शुक्लजी ने 'सभ्य संसार का भावी धर्म' नामक लेख लिखा और यह प्रतिपादित किया कि अभी उस धर्म का विकास नहीं हो पाया है जो सभ्य संसार का धर्म होगा। सभ्य संसार का जो धर्म होगा वह अभी गर्भ में है जो आगे चलकर पैदा होगा जिसे हम सभी लोग स्वीकार कर सकेंगे। शुक्लजी ने जाति व्यवस्था पर, धर्म पर बहुत गंभीर विचार किया है। उनका चिंतन बहुत गंभीर रहा है, इस पर हमें विचार करना चाहिए। अंत में मैं कहना चाहूंगा कि साहित्य में शुक्लजी ने जो स्थापनाएं दीं और जिन मान्यताओं को खारिज किया उसके विपरीत न हम स्थापनाएं दे पाएं हैं और न उनकी खारिज की हुई मान्यताओं को साहित्य में वापस ला पाए हैं। सबसे पहला काम जो शुक्लजी ने किया वह यह कि उन्होंने अभिव्यंजनावाद को साहित्य से निकाल बाहर किया। आज तक हम साहित्य में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को स्थापित नहीं कर पाए हैं। शुक्लजी का हिंदी में एक महत्वपूर्ण लेख है 'काम नहीं सुरक्षा कला की मूल प्रेरणा है'। उनके अनुसार कला की मूल प्रेरणा Sex नहीं Security है। इस लेख द्वारा फ्रायड के सिद्धांत का विरोध किया गया है।

शुक्लजी ने केशव को कठिन काव्य का प्रेत कहा। हम आज भी साहित्य के विद्यार्थियों से पूछते हैं कि क्या केशव कठिन काव्य के प्रेत थे? केशव को उस प्रेत ने आज तक नहीं छोड़ा। बड़ी छोटी-छोटी चीजों को शुक्लजी ने पैनी निगाहों से देखा। एक और बात कि भगवतीचरण वर्मा को 'चित्रलेखा' से बहुत सम्मान मिला। शुक्लजी के अंतिम शिष्यों में शिवमंगल सिंह 'सुमन' एक थे। वर्माजी ने सुना कि शुक्लजी ने 'चित्रलेखा' को कोर्स में लगा दिया है। वे उसके प्रशंसक भी हैं। उन्होंने शिवमंगल सिंह 'सुमन' को पकड़ा कि किसी तरह शुक्लजी से मेरी मुलाकात करा दीजिए। कहा जाता है कि शुक्लजी जब 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिख रहे थे तो उनके आस-पास साहित्यकारों का जमावड़ा लगा रहता था कि किसी तरह उनका नाम भी इतिहास में आ जाए। वर्माजी उनसे मिलने गए। शुक्लजी बड़े आदर से वर्माजी से मिले और 'चित्रलेखा' की तारीफ करते हुए कहा कि उन्होंने बड़ा महान काम किया है। इस पर वर्मा जी

ने 'चित्रलेखा' की प्रशंसा करते हुए कहा कि शुक्लजी आपने 'चित्रलेखा' में इन इन तथ्यों पर ध्यान नहीं दिया है, इन्हें भी देख लीजिए। शुक्लजी समझ गए कि वर्माजी मद से पागल हो रहे हैं। उन्होंने वर्माजी से कहा 'ठीक है देख लूंगा, पहले आप यह बतलाइए कि 'चित्रलेखा' की रचना तो गुप्तकाल की पृष्ठभूमि में हुई है फिर इसमें कुमारगिरि जैसे नाम कैसे आ गए हैं। गिरि/पुरी की संकल्पना तो आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने की। आप ये कहां से ले आए? जाकर इन नामों को बदल दीजिएगा, सुधार दीजिएगा।' वर्माजी अपनी औकात में आ गए। महादेवी वर्मा के शुक्लजी प्रशंसक थे लेकिन रहस्यवाद के कारण उनके विरोधी भी थे। महादेवीजी की कविता की पंक्ति कुछ थी 'शेफालिका गिरती झर झर'। शुक्लजी ने संदेश भिजवाया जरा उसको बता दो कि यही फूल ऐसा है जिसे गिरते हुए कोई नहीं देखता है। यह रात में गिरता है और सुबह धरती पर बिछा हुआ मिलता है। फिर वह कैसे लिख रही हैं कि 'शेफालिका गिरती झर झर'। इन दोनों उदाहरणों से मैं यह कहना चाह रहा हूं कि हम साहित्य को सीमित करके देखते हैं पर आचार्य शुक्ल तो साहित्य के विद्यार्थी नहीं थे, उन्होंने साहित्य को कितना व्यापक बनाया विज्ञान, धर्म, समाज, साहित्य, भाषा, व्याकरण, अनुवाद आदि पर एक साथ कार्य किया है। उस समय कुछ साहित्यकार ऐसे थे जो बंगला या मराठी के उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद कर उसे अपने नाम से छपवाते थे। शुक्लजी ने लंबा लेख लिखकर उनका विरोध किया और ऐसे स्वनामधन्य लेखकों का पर्दाफाश किया। उन्होंने लिखा कि ऐसे लोगों को जो साहित्य में 'गड़बड़झाला' मचाए हुए हैं उन्हें साहित्य से निकालना चाहिए, ऐसी चीजें साहित्य में नहीं होनी चाहिए। दूसरी चीज उन तमाम स्वस्थ परंपराओं का विकास होना चाहिए जो हमारे जीवन को समृद्ध करे। आचार्य शुक्ल के चिंतन की इन चुनौतियों पर अगर थोड़ा भी ध्यान देंगे और हम एक बार उन्हें इन दृष्टियों से देखेंगे तो शायद उनके प्रति यह हमारी सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी।

प्रस्तुति स्नेहसुधा (शोध छात्रा)

❐❐

(1) अम्माएं

दूधनाथ सिंह

प्रख्यात कथाकार दूधनाथ सिंह इन दिनों महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर में 'राइटर-इन-रेजिडेंस' के रूप में एक वर्ष के प्रवास पर हैं। बहुवचन के इस अंक में हम पाठकों के लिए उनकी दो नई कहानियां प्रस्तुत कर रहे हैं।

वह विशाल, हरा पेड़... जैसे वह पूरी धरती पर अकेला था और दूर-दूर तक, जहां तक नजर जाती, धरती फटी हुई थी। उसमें बड़ी-बड़ी दरारें थीं। केवल चिलचिलाता वीराना था, जिसमें कहीं-कहीं धूसर-मटमैली, न दिखती हुई-सी बस्तियां थीं मिट्टी के तितर-बितर ढूहों के खंडहर, जो हमारे रजिस्टर में दर्ज थे। अनंत-अछोर उन सूखे मैदानों में किसानों ने अपने डांगर छोड़ दिए थे। चौंधा मारती धूप के उस सन्नाटे में हड्डियों के हिलते-कांपते झुंड अचानक दिख जाते, जो न जाने किधर और कहां दबी-ढंकी घास की हरी-हरी पत्तियां ढूंढ़ते, सूखे और काले निचाट में थूथन लटकाए इधर-उधर डोल रहे थे। हमारी जीप धूल उड़ाती, उस छतनार पेड़ की ओर बढ़ रही थी। उसके पास ही तीन-चार घरों का एक खंडहर था। हमने वहां पहुंचकर जीप रोकी और नीचे उतरकर खड़े हो गए। एक खंडहर से सात-आठ बच्चे किलबिल करते निकले और हमें देखते ही अंदर भाग गए। हमने समझा कि वे कपड़े-वपड़े पहनने गए होंगे, क्योंकि वे सभी नंग-धड़ंग थे। इतनी भीषण गर्मी है और हवा बंद है, इन खुले-बेछोर मैदानों में भी आर-पार बंद है, ऐसे में कपड़े तन पर काटते हैं यही हमने सोचा और बच्चोंा के फिर से बाहर आने का इंतजार करने लगे। और पाकड़ का यह विशाल वृक्ष! वह कहां से रस खींचता हुआ इतना बड़ा हुआ था! क्योंकि पिछले छः सात सालों से इधर, पूरे बुंदेलखंड में बारिश की एक बूंद नहीं गिरी थी। लोग बताते थे कि इतना लंबा सूखा तो उनके होश में कभी नहीं पड़ा था। बाग-बगीचे, बंसवारियां, यहां तक कि घर छाने वाले सरपत भी राख हो चुके थे। अब वे दुबारा कभी नहीं उगेंगे, क्योंकि धरती के अंतस का सारा जल खतम है...

तभी जनगणना आ गई थी।

हमें इस इलाके की जनसंख्या रजिस्टर में भरनी थी। फॉर्म में तरह-तरह के कॉलम थे।

हमारी जीप एक बस्ती से दूसरी खंडहर बस्ती। अक्सर लोग जीप की घर्र-घर्र सुनते ही घरों से भाग जाते। हम महीने-भर से इधर ही थे। हमें क्या और कैसे बोलना था, हमें रट गया था।

नाम?

पिता का नाम?

क्योंकि हमारे एक कारकुन ने 'बाप का नाम' बोला था तो पिट गया था। 'बाप' बोलता है? और वह आदमी चढ़ बैठा था। बीच-बचाव करना पड़ा था और फिर सारे मर्द गांव छोड़कर भाग गए थे। सरकारी लोग हैं, पुलिस आ सकती है। तब से हम 'बाप' की जगह 'पिता का नाम' पूछने लगे थे। पता हवाल?

साकिन-मौजा?

बच्चे कितने?

बच्चों का क्या करोगे? वह आदमी बाघ की तरह चौकन्ना हो गया था।

पेशा? माने, क्या करते हो?

उम्र? कितनी?

नकारात्मक सिर।

सही-सही बोलना। छिपाना मत।

तुम्हारा नाम इस रजिस्टर में दर्ज होगा तभी सब कुछ होगा।

'क्या सब-कुछ होगा' चेहरे पर यह भाव।

अगर नहीं, तो तुम कहां के बाशिंदे हो, तुम्हारे पुरनियां कौन थे, तुम्हारी जमीन? खुदकाश्त, भूमिधरी, बंटाई, अधिया, शिकमी?

कुछ पता नहीं चलेगा।

पुलिस तुम्हें धर लेगी।

तुम चोर-डकैत-खूनी। चंबल के बीहड़ों में घूमने वाले!

तुम्हारे ऊपर कोई भी इल्जाम आ सकता है।

तुम हवालात में, जेल में, पुलिस के डंडे के नीचे।

यह खबर आग की तरह फैली।

नतीजा? सारे मर्द गायब।

'अगर इस हादसे की शिकायत हुई तो हम नप जाएंगे' एक क्लर्क ने कहा।

बैठने की और कोई जगह नहीं थी। सिर्फ उस पेड़ की घनी छांह, जो सुकून थी, एक अविश्वसनीय सपना थी। हमने अपनी बड़ी-सी सफरी दरी निकाली और चार जनों ने चारों कोने पकड़कर उसे धूल के ऊपर बिछाया। वहां चींटियों के बड़े-बड़े बिल थे। धूल, जो हल्की गर्म थी। और हवा गुम। और चारों ओर एक गर्म सन्नाटा।

हमारा चपरासी उस मिट्टी के खंडहर तक गया।

सामने का किवाड़ बंद था, लेकिन बगल से आधा घर टूटा हुआ था।

उधर से छोटे-छोटे, नंग-धड़ंग बच्चे निकलकर झांकते और अंदर भाग जाते। 'अंदर कौन-कौन है? बाहर निकलो और नाम-पता लिखाओ।' चपरासी उस बंद किवाड़ के पास जाकर चिल्लाया।

तीन-चार बच्चों ने घर के टूटे हुए हिस्से की तरफ से झांका, खिलखिलाकर हँसे और अंदर भाग गए।

'ए, भीतर कौन-कौन है?' चपरासी ने फिर हांक लगाई।

बच्चों का एक झुंड फिर घर के उस ढहे हुए ढूह से बाहर निकला।

'हमारी अम्माएं हैं, और कोई नहीं है।' एक बच्चे ने साहस किया।

अब वे सभी खंडहर की टूटी-फूटी दीवारों पर चढ़कर खड़े हो गए।

'अपनी अम्माओं से बोलो कि बाहर आकर नाम-पता लिखाएं। अपनी अम्माओं से बोलो कि डरें नहीं। हम लोग सरकारी आदमी हैं।' चपरासी कुछ इस तरह ऊंची आवाज में बोल रहा था, जिससे अंदर बैठी औरतें सुन लें।

'भीतर कितनी अम्माएं हैं?' चपरासी ने पूछा।

एक लड़के ने पंजे की तीन उंगलियां ऊपर कीं, दूसरे ने चार, तीसरे ने पूरा पंजा। फिर वे खिलखिल करते भीतर भाग गए।

'बड़ा चक्कर है साहब, और मरद-मानुस कोई दिख नहीं रहा।' चपरासी पसीने से तर-ब-तर था। 'बच्चे खेल कर रहे हैं, शायद अंदर कोई है नहीं।' मैंने कहा।

'अंदर कोई नहीं होगा, तो इतने बच्चे कहां से आए!' चपरासी को जैसे मेरी नादानी पर तरस आया।

'आगे बढ़ते हैं।' हमारे बीच से कोई बोला।

'लेकिन यह खंडहर दर्ज है साहब, छूट जाएगा।' कारकुन ने लिस्ट चेक की।

'छूट जाएगा तो कौन जनसंख्या की कमी हो जाएगी!' इस पर एक साथ सभी लोग हँसे।

'सब नंगे थे।' बच्चों के बारे में।

'चिरकुट भी नहीं था।' चपरासी ने कहा।

'कितनी गर्मी है!'

'फिर भी साहेब, इस तरह नंगे थोड़े कोई रहेगा!'

मेरा दिमाग अजब फितूरी है। बाहर कुछ और होता रहता है और भीतर कुछ और चलता रहता है। जितनी बार बच्चे निकले, चाहे झुंड में, या वह अकेला किशोर-वय सभी निपट नंगे थे। तो भीतर क्या-कुछ चल रहा है? स्त्रियां बाहर क्यों नहीं आ रहीं? और मर्द लोग? वे इस निपट वीराने में इस जनसंख्या को इस तरह निपट-निराधार छोड़कर कहां चले गए हैं? जब यह घटित हो रहा था, मैं अचानक गुड़गांव के मॉल्स में टहल रहा था। चारों ओर वस्त्रों के ढेर के ढेर की सजावट। कोई अपनी नाज़नीं से फुसफसा रहा था, 'इसमें चलते-चलते थक जाओगी, यह एक-डेढ़ किलोमीटर लंबा है। जो खरीदना है, ले लो। इतने कपड़े, इतनी तरह के, इतनी नाप के... वस्त्रों के उस लंबे गलियारे में... यहां से न जाने कहां तक। जयपुर हाइवे के बिल्कुल बगल तक। मैंने कांच की चमकती, विशाल दीवार के पार देखा। इतने रंग एक साथ झूल रहे थे। और इतनी सुहानी ठंडक, जैसे मैं शिमला के मॉल के नीचे की सीढ़ियों से उतरकर विंडो-शॉपिंग कर रहा हूं। कुछ खरीद नहीं रहा, लेकिन जेम्स बांड की तरह अपने ओवरकोट की जेबों में हाथ डाले मेरी चहलकदमी पर किसी को भी एतराज नहीं है, और सभी मंद-मंद

मुस्कुरा रहे हैं। ठीक इसी तरह मेरी आत्मा वहां मीलों लंबे वस्त्र-बाजार में टहल रही थी, जबकि मैं वहां था, उस पेड़ के नीचे, चूतड़ों पर गर्म-धूल और चींटियों के बिल और अपने कारकुनों के साथ, एक खंडहर का सामना करते हुए, जिसके भीतर शायद एक निर्वसन-निचाट खलबली थी। इसी तरह... ठीक इसी तरह, जब उन बच्चों में से एक ने कहा, 'अम्माएं हैं, और कोई नहीं हैं' तो वहां बैठे-बैठे मैं अपनी मां को सोच रहा था, जो बेवजह और मामूली घरेलू फ साद पर गुस्सा होकर कुएं में डूब मरी।

तभी एकाएक सामने का दरवाजा खुला। एक हट्टी-कट्टी औरत एक मुचड़ी हुई, चमकीली, धराऊं साड़ी पहने, उसकी तुड़ी-मुड़ी सलवटें हाथ से सहलाती बाहर निकली। हम सभी उठकर खड़े हो गए। नहीं, किसी दहशत में नहीं, उसके इस तरह स्तब्धता से प्रकट होने पर। उधर खंडहर पर सारे नंग-धड़ंग बच्चे निकलकर चुपचाप खड़े हो गए जैसे कोई दुर्घटना होने जा रही हो। चपरासी, जो फिर आवाज लगाने जा रहा था, सहमा हुआ, कुछ दूरी बनाए हुए उसके पीछे चल रहा था।

'हां, पूछिए।' उस औरत ने अत्यंत विनम्र और निडर आवाज में कहा।

'आपका नाम?'

'नहीं पता,' औरत ने हाथों से इनकार किया।

'आपके पति का नाम?'

'नहीं लेते।'

कारकुन मुस्कुराया।

'कोई औरत इधर नहीं लेती जी।' एक क्लर्क ने कहा।

'कहां हैं आपके पति?'

'पता नहीं।'

'आप लोग अकेले रहते हैं यहां?'

'नहीं तो।' उस औरत ने बच्चों की ओर नजर दौड़ाई।

'ये आपके बच्चे हैं?'

'नहीं, हम तीनों के।'

'अंदर तीन अम्माएं होंगी साहब!' चपरासी ने कहा।

औरत ने चपरासी की ओर देखा।

'तो उन्हें भी बुलाइए।' मैंने कहा।

'थोड़ी देर लगेगी।' औरत ने कहा।

'क्यों? देर क्यों लगेगी?' मुझे थोड़ा-थोड़ा गुस्सा चढ़ रहा था। चींटियां न जाने किधर से दरी पर चढ़ी आ रहीं थीं और इधर-उधर दौड़ भाग रही थीं।

'क्यों देर लगेगी?' मैंने एक चींटी को मसलते हुए पूछा।

'नहीं बता सकते।' औरत ने कहा।

'क्यों... क्यों-क्यों?'

'नहीं बता सकते।'

औरत ने फिर दुहराया। 'तो मत बताइए, उन लोगों को भेजिए फिर।' मेरा गुस्सा भड़क रहा था।

'थोड़ी देर लगेगी।'

'फिर वही बात।' मैं बिफर पड़ा।

'हुजूर, नंगी तो नहीं आ सकतीं। वो तो बच्चे हैं, उसने खंडहर पर खड़े बच्चों की ओर देखा, 'मैं जाऊंगी, यह साड़ी खोलूंगी, तब न! साड़ी बांधने में थोड़ी देरी तो लगेगी कि नहीं?' औरत मुड़ी और उस अधखुले दरवाजे के भीतर गुम हो गई।

फिर दरवाजे के बंद होने की आवाज हुई फटाक्।

हमने पलटकर उधर देखा।

हम सबका मुंह खुला। हम सबने एक ही कल्पना की अम्माएं और बच्चे। उस आदिम अवस्था की कल्पना में हमारी आंखें फटी रह गईं। हमारा चपरासी कुछ बोल रहा था, 'वो दूसरी-तीसरी भी कुछ नहीं बोलेंगी साहब! तो क्या जरूरत है साहब! कुछ भी लिख लीजिए साहब तीन अम्माएं और बच्चे पता नहीं सात-आठ कि नौ,' 'और इनके आदमी?' चपरासी ने चिलकती धुंध में देखा, 'यहां से भागिए साहब।'

मैंने घबराकर चारों ओर चौंधियाती धूप में बंजर धरती पर नजरें गड़ाईं।

डांगर पशुओं का एक झुंड हिलता-कांपता न जाने किधर को बढ़ रहा था।

सब कुछ बेआवाज़।

❐❐

(2) सरहपाद का निर्गमन

चौरासी सिद्धों में सर्वोपरि थे सरहपाद।

मठ के महंत। विचारक। दार्शनिक। सिद्ध। ब्राह्मण।

मठ में टहलते हुए रोज एक कुंवारी, कमसिन दासी पर नजर पड़ती थी, जो हमेशा झाड़ू लगाती दिखती थी। सरहपाद उसे न देखते हुए भी प्रतिदिन देखते। जब वह आगे बढ़ जाते, उन्हें लगता, वह दासी उनकी पीठ को तक रही है। उन्हें अपनी पीठ में चुभे हुए दो नैन दिखते। प्रतिकूल दिशा में देखते हुए भी उन्हें लगता कि उसे देख रहे हैं। लगातार उसे देख रहे हैं। टहलते हुए वे मठ के बाहर दूर-दूर तक निकल जाते। अचानक उन्हें लगता कि सिद्धों की टोली उनके पीछे है। सभी को उनकी चिंता होने लगी। सरहपाद वापस लौटते। उनकी आंखें उसे ढूंढतीं न ढूंढ़ते हुए भी ढूंढ़तीं। फिर वे अपने बिस्तर में, अपनी नींद में, अपनी अनिद्रा में, अपने स्नान में, ध्यान में, अध्ययन में, हद में बेहद में, अनहद में, ब्रह्मांड में हर जगह उसे ढूंढ़ने लगे। रात भर वे सुबह होने की प्रतीक्षा करते, कि वे बाहर निकलेंगे और रात को खूब ढेर-सारी पत्तियां गिरी होंगी और वह लड़की बुहार रही होगी। वे 'बुहारने' की खरखर आवाज कानों में घोलने की सोचते। उन्हें लगता है कि एक कालातीत, विश्वजनीन पतझर का मौसम लगातार चल रहा है। पत्तियां हैं, जो वर्षा की तरह झर रही है और वह लड़की है जो बुहारे जा रही है, बुहारे जा रही है। उन्हें लगता, सारी दुनिया में सिर्फ झाड़ू लगाने का कार्यक्रम चल रहा है। उनकी नींद में भी खरहर चल रहा है। वह अनिद्राग्रस्त हैं। उनकी प्रशांति नष्ट हो गई है। उनकी साधना खंडित हो गई है।

तब एक दिन... रात के पिछले पहर में महाऋषि सरहपाद अपने आसन पर बैठे-बैठे रोने लगे।

अगली सुबह वे निकले।

हल्का अंधेरा था। विक्रमशिला के स्तूप के पीछे सूर्योदय का आभास था। उधर आकाश में हल्की लाली बिखर रही थी। मुंह अंधेरे ही वे उस ओर बढ़ते गए, जिधर चौदह वर्षीय वह दलित बालिका झाड़ू लगा रही थी। सरहपाद उसके निकट जाकर खड़े हो गए। 'ठहरो।' उन्होंने झाड़ू को रोकने का इशारा किया। लड़की डर गई। लगा उसकी रोज़ी गई। उसे महागुरु काम से निकाल देंगे। उसके काम में खोट है। वह बुहारती जाती है और उसके पीछे पत्तियां झरती

जाती हैं। महागुरु रोज सवेरे, झलफले में उसे देखते हुए जाते हैं।

'क्या अपराध हुआ महाराज?' लड़की ने झाड़ू के साथ ही अपने दोनों हाथ जोड़ते हुए कहा।

'क्या तुम मठ से बाहर मेरे साथ चलोगी? सरहपाद ने पूछा।

'कहां महाराज?'

'यह तो मैं भी नहीं जानता। लेकिन यहां से बाहर, मेरे साथ, मेरे संग, मेरे जीवन के साथ।'

लड़की चुप।

'मैं यह मठ छोड़ दूंगा। मैं यह साधना छोड़ दूंगा। मैं अपनी पगड़ी उतारता हूं धरती पर। मैं पतन की ओर निकलना चाहता हूं। मैं तुम्हारी देह, तुम्हारी आत्मा, तुम्हारी त्वचा, तुम्हारा मन, तुम्हारा समूचा अस्तित्व सब तुमसे मांगता हूं। मैं तथागत के प्रतिकूल, स्त्री-देह, स्त्री-संसार, स्त्री के होठों की ओर प्रत्यागमन करना चाहता हूं। क्या तुम मेरा साथ दोगी?' अचानक सरहपाद ने झाड़ू समेत उस चौदह वर्षीय बालिका के हाथ पकड़ लिए।

लड़की ने झाड़ू नीचे रखा।

'उसे उठा लो, उसी की जरूरत है।' महागुरु सरहपाद ने कहा।

लड़की ने झाड़ू उठाया और दूसरे हाथ से सरहपाद का हाथ पकड़ विक्रमशिला के वाह्य-द्वार की ओर चल पड़ी।

सरहपाद ने पलटकर पीछे देखा।

वहां तिरासी सिद्ध हकबकाए हुए खड़े थे

'आप लोग सिद्ध हैं, साधक हैं आप सबको प्रणाम।' सरहपाद ने रास्ते की धूल में लेटकर साष्टांग दंडवत किया।

'यह क्या हो रहा है!' डोडिम्भपा ने हड़बड़ाकर पूछा।

'मुझे मेरा सत्त्व मिल गया। आप लोग संभालिए अपना मठ, अपनी साधना, अपनी कीर्ति, अपना संगठन, अपना इतिहास, अपना काल-खंड। मैं अब जाता हूं।'

और महाऋषि सरहपाद उस लड़की का हाथ थामे मठ के मुख्य द्वार से बाहर चले गए।

❐❐

मेहमान

राकेश भारतीय

शादी में उनकी वे गए जरूर थे पर एक तो वह हुई तीन साल पहले थी और ऊपर से दूर की रिश्तेदारी की ही थी; एकदम से कैसे याद आ जाएगा नीरजा को चौखटा दामाद लगने वाले उस आदमी का!

''ठीक है, तो मैं चलूं?'' विजयशंकर ने जैसे चलते-चलते ही कहा।

''चल ही रहे हो! जो भी आएगा, खातिर हो जाएगी।'' विजयशंकर के लिए अदब से कार का दरवाजा खोलते हुए ड्राइवर के अभिवादन का भी नीरजा ने नोटिस नहीं लिया और इतना कहकर झटके से मुड़ गई।

विजयशंकर ने भी तो मेहमान का ख्याल रखने की बात कुछ ज्यादा ही गंभीरता से कहने की गलती कर दी थी। यहां तो मेहमान के नाम पर वे ही खूसट से चेहरे बार-बार भुगतने की आदत डाल ली है नीरजा ने, पति के दफ्तरी दायरे के खूसट जो शायद सांस भी तयशुदा अंदाज में लेने का प्रशिक्षण लिए हुए हैं।

देखते हैं ये मेहमान क्या चीज है!

अरे, हां! पायोनिमा को तो बता दिया जाए।

''पायोनिमा ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ''

नीरजा की हां के जवाब में पायोनिमा लगभग दौड़ती हुई आई।

नीरजा ने उसके परेशान से लगते चेहरे पर नजरें फिराते हुए कहा-''ओह्! शायद मैंने कुछ ज्यादा ही जोर से आवाज लगा दी। नहीं, कोई इमरजेंसी नहीं है। बस यह बताने के लिए बुलाया था कि एक मेहमान आने वाले हैं जो रिश्ते में साहब की बहन लगने वाली एक मैडम के दामाद हैं और ...और, उनका जरा खयाल रखना है, मतलब खाने में जो भी चाहें बना...''

मालकिन की प्रवचननुमा हिदायत को पायोनिमा पूरे धैर्य से सुनती रही, सिर बीच-बीच में हिलाती भी रही।

फिर वह अपने काम निपटाने चली गई ओर नीरजा ने लॉन का एक चक्कर लगाने का निश्चय किया।

यह बागनुमा लॉन ही तीन वर्ष पूर्व इस मकान के आवंटन के समय नीरजा के लिए सबसे

बड़ा आकर्षण बना था। तरह-तरह के पेड़ और उन पर बसेरा करते या आते-जाते तरह-तरह के पक्षी। पर आने के दो दिन भीतर ही वह समझ गई थी कि रखरखाव की सख्त जरूरत है इस लॉन को। अपने दफ्तर के काम को ही काम समझने वाले विजयशंकर के पीछे पड़-पड़कर नीरजा ने लॉन के लिए एक माली लगवाया। हर हफ्ते दो बार माली आता और नीरजा के तमाम तरह के निर्देशों में से व्यवहारिक लगते निर्देशों का पालन कर एक हजार रुपये महीना वसूल जाता। पर पांच महीने पहले इसी लॉन की वजह से माली के खाते में कुछ अतिरिक्त रुपये भी फुंक गए थे।

चक्कर लगाती हुई नीरजा बेल के पेड़ के पास से गुजरी तो बात याद कर उसको हँसी आ गई। इसी पेड़ ने नीचे से गुजर रहे माली के कंधे पर बेल टपका दिया था और वह मरहम-पट्टी के बाद भी यह कोना फिर फलांगने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था। तब एक मजेदार उपाय सूझा नीरजा को। पुराने से एक हेलमेट का जुगाड़ कर उसे स्टोर-रूम में रखवा दिया गया। माली को जब भी इस पेड़ के नीचे अपनी कलाकारी दिखाने की आवश्यकता पड़ती तो वह हेलमेट उसे तसल्ली देने के लिए उसकी खोपड़ी पर मौजूद रहता।

पेड़ के पास खड़ी मगन मुस्कुराती नीरजा के पास पहुंचकर पायोनिमा ने आहिस्ता से कहा-

''मैडम! गेस्ट आया है।''

छह फुटे नौजवान ने पूरा झुकते हुए नीरजा के पैर छुए और कहा-

''मामीजी। मैं, अनिल।''

उसके घोर संस्कारी आचरण से किंचित आश्चर्यचकित नीरजा ने जल्दी-जल्दी कहा ''हां, हां। खुश रहिए। आइए, उधर सोफे पर आराम से बैठिए।''

''अरे, मामीजी। मैं तो आपसे छोटा हूं, आप मुझे नाम से पुकारें ना।'' अनिल अपनी बत्तीसी पूरी ही फाड़कर बोला।

''हां, हां। आप मेरा मतलब, अनिल। लीजिए...चाय लीजिए।'' तत्परता से जाए बनाकर ले आई पायोनिमा ने नीरजा को सुसंस्कार के ताबड़तोड़ प्रदर्शन से उपजे अचंभे से फिलहाल उबार लिया। ''वाह क्या चाय बनी है!'' चुस्की लेते ही अनिल ने प्रशंसा की और ट्रे लेकर जाती हुई पायोनिमा की ओर मुंह घुमाकर कहा

''बहुत बहुत धन्यवाद।''

पायोनिमा ने मुस्कुराकर सिर झुकाया। इसके पहले दरवाजा खोलते समय वह अनिल की बाकायदा हाथ जोड़कर की गई 'नमस्ते' का सुखद अनुभव ले चुकी थी।

बिस्कुट-मठरी खाते और चाय पीते हुए अनिल पता नहीं क्या-क्या बतियाता रहा और बीच-बीच में हुंकारी भरती हुई नीरजा मुदित भाव से सुनती रही। अनिल का अंदाज ऐसा लग रहा था जैसे वह नीरजा से पहले कभी बीच में ही बाधित हो गया संवाद पूरा करने की उतावली में है। उधर नीरजा के हृदय में यह बात बार-बार घुमड़ी जा रही थी कि ऊपरवाले की फैक्टरी से निकले ऐसे रोचक इंसान अपवाद स्वरूप ही क्यों दिखते-मिलते हैं।

''ओह, मामीजी! मैं तो भूल ही गया था आपको दिखाना ये ऽ ऽ देखिए।'' पैंट की पिछली जेब से पर्स निकालकर अनिल ने उसमें से एक छोटी सी फोटो खोजी और नीरजा की आंखों

के सामने लहरा दी। ''चित्रा को तो आपने शादी में देखा ही होगा पर अपनी छुटकी को जरा देखिए। कैसी गोलमटोल है, है न? अब तो उसका दांत भी निकल आया है। छुटकी के मुंह से झांकता हुआ छुटका सा दांत, हा ऽ हा ऽ हा ऽ ...'' उसकी हँसी पर नीरजा की भी हँसी निकल आई। अपनी बच्ची की बातें बता-बताकर हँसता हुआ वह भी एक हँसमुख बच्चा ही नजर आ रहा था, अपने प्रिय खिलौने के बारे में उत्साह से बात करता हुआ बच्चा। अचानक सामने दीवार पर टंगी घड़ी पर अनिल की नजर क्या पड़ी, वह झटके से उठकर खड़ा हो गया।

''मामीजी। मैं फटाफट नहाकर तैयार हो जाता हूं। इंटरव्यू के लिए टाइम से ही पहुंचना होगा।'' और आनन-फानन में अपनी अटैची से कपड़े वगैरह निकालकर वह बाथरूम की ओर भाग लिया।

अनिल का आना एक इंटरव्यू के सिलसिले में हुआ था। अभी वह जिस नौकरी में है उसमें तनख्वाह वगैरह ठीक है पर दौरे बहुत लगाने पड़ते हैं, बाप बनने के बाद से वह एक ऐसी नौकरी की तलाश में है जहां भले तनख्वाह कुछ हजार रुपए कम मिले पर दौरों से निजात मिले, मार्केटिंग एक्जक्यूटिव के रूप में काम करना पहले पैसा तथा थ्रिल की वजह से लुभावना लगता है पर बाद में पारिवारिक जीवन चौपट करने लगता है...नाश्ता करते-करते वह सारी रामकहानी बता गया।

''बस्स्! अब लंच की कोई जरूरत नहीं। ये जोरदार परांठे इंटरव्यू को झेलने लायक कैलोरी से लैस कर चुके हैं मुझको।'' सफलता के लिए नीरजा के पैर छूकर आर्शीवाद लेते हुए अनिल निकल गया। तुरंत ही नीरजा को ख्याल आया कि ऑटोरिक्शा-टैक्सी के बारे में एक बार उसे ढंग से बता दे पर फिर पीछे से आवाज देना ठीक नहीं समझा।

अब नीरजा अपनी दिनचर्या के थोड़े लंबित हो गए काम निपटाने में लग गई। दो दशक पूर्व हुई शादी के बाद पहले दो-तीन साल श्रीमती विजयशंकर के चोले में गुजरे, अर्धसामंती परिवेश वाले कॉडर में अफसर होने का जलवा भरपूर था और उसकी छाया से अर्धांगिनी के रूप में जाने-अनजाने अपनी दिनचर्या निर्धारित करते चले जाना अस्वाभाविक नहीं था। फिर राजधानी में सचिवालय में विजयशंकर क्या आए उनका तो दायरा बढ़ गया, नीरजा का दायरा छोटा हो गया। अपनी-अपनी व्यस्त दिनचर्या में चकरघिन्नी की तरह घूमते हुए लोग, क्या अफसर क्या चपरासी। बच्चों को सुबह तैयार कर स्कूल भेजना ही कितना बड़ा काम लगता है बड़े शहरों में, उनकी ही छोटी-बड़ी जरूरतों को पूरा करने में व्यस्त रहते हैं मां-बाप।

उन्हीं दिनों परिवार में एक बच्चे की जरूरत नीरजा को इस कदर महसूस हुई कि शास्त्रों में विवाह के एकमात्र निर्धारित उद्देश्य संतान प्राप्ति के प्रति वह खुद भी सचेत हुई, पति को भी बारंबार सचेत किया। दिल और दिमाग से लेकर उनके हर आवश्यक अंग-उपांग के इस उद्देश्य की पूर्ति की ओर दो साल सक्रिय रहने के बावजूद हाथ कुछ नहीं लगा। फिर डॉक्टरों के चक्कर लगे, एक डॉक्टर से दूसरा डॉक्टर, एक टेस्ट से दूसरा टेस्ट, एक राय से दूसरी राय...

तमाम डॉक्टरों और भारी-भरकम जुमलों से आच्छादित उनकी चिकित्सकीय सलाहों से अंततः निष्कर्ष एक ही निकला...नीरजा के भीतर प्राकृतिक रुप से मां बनने की क्षमता है ही नहीं।

विजयशंकर ने क्षणिक असहजता के बाद इस कटु सत्य को दार्शनिक को शोभा देने वाली तटस्थता के साथ लिया, या कम से कम नीरजा को ऐसा आभास दिया।

पर भारतीय परंपरा में विवाहित स्त्री के लिए कल्पित सबसे बड़े अभिशाप को तटस्थ रूप से लेने लायक दार्शनिकता न नीरजा के पास थी, न ही उसे वांछित थी। वह तो भावनात्मक रूप से स्तब्ध हो जाने और सुन्न हो जाने के बीच झूलती हुई इसी बात पर दिन-प्रतिदिन सोचती रही कि मातृत्व को गंम्भीरता से उसने ज्यों ही लिया, त्यों ही उसका बांझपन भी गंभीरता से उजागर हो गया।

साल दर साल बीतते रहे। फिर एक ऐसा मुकाम आया जब नीरजा ने सोचा कि बहुत हो गया इसी एक बात पर सोचना, इसी एक कमी के चलते अपनी जिंदगी को जिंदगी न समझना...

और उसी वक्त से नीरजा ने अपने-आपको बदलना शुरू किया, अपनी सोच बदली, दिनचर्या बदली। वह अपने छोटे से दायरे में ही जिंदगी के बड़े और असली मायने तलाश करने में लग गई।

पर अपनी बच्ची की फोटो दिखाकर अपने सार्थक और सुखद पितृत्व पर बच्चों की तरह मुदित होता यह मेहमान आज वह सारा का सारा किस्सा एक झटके में याद दिला गया।

''गेस्ट के वास्ते लंच में कोई स्पेशल चीज बनाना है, मैडम?''

पायोनिमा के इस प्रश्न ने नीरजा को यादों की सुरंग से एक झटके में बाहर खींच लिया।

''नहीं...उनको लंच नहीं खाना है। डिनर खायेंगे। मेथी तैयार कर दो, मेथी-आलू मैं खुद बनाऊंगी।''

घुटनों पर हाथ देते हुए वह धीरे से उठी। चाहे जो हो, मुखौटे लगाकर नकली भाव-भंगिमाएं दिखाते लोगों से आच्छादित इस शहर में कोई तो दिखा इतने सालों बाद खुल कर अपनी हँसी अपने तरीके से हँसता हुआ। अच्छा लगेगा ऐसे इंसान को अपने हाथ से अपना प्रिय व्यंजन बनाकर खिलाना, शायद उसे पसंद आए।

शाम घिर रही थी। लॉन में बैठी हुई नीरजा अपने प्रिय पेड़ों को यदा-कदा निहार लेती थी और बीच में किसी चिड़िया का चहचहाना सुनती थी तो अंदाज लगाने लगती थी कि वह किस पेड़ पर बैठी हुई है। ये पेड़-पौधे, ये चिड़ियाएं, ये तितलियां, यहां तक कि रंगबिरंगे कीट-पतंगे भी उसकी दिनचर्या के सबसे सुखद क्षणों में भागीदारी करते थे। सुबह से शाम तक इनकी कोई न कोई गतिविधि नीरजा का कोई न कोई क्षण इस कदर आनंद से लहलहा देती थी कि बाकी क्षणों में घुसा बैठा अवसाद सिर पर पैर रखकर भाग निकलता था।

पीले पंखों वाली एक तितली को गोधूलि वेला में एक पौधे के आसपास सुबह जैसे उत्साह से मंडराते देखकर नीरजा को आश्चर्य हुआ कि किस चीज की खोज में लगी है यह तितली इस वक्त? क्या अंधेरा हो जाने पर अपना ठिकाना चुनने की जल्दी में है? अक्सर इस तरह के दृश्यों को देखकर नीरजा के मन में इस तरह के प्रश्न उठते और वह पूरे मनोयोग से उन प्रश्नों के उत्तर तक पहुंचने में लगी रहती।

अचानक ही तितली ने अपने पंखों से तिरछी उड़ान भरी और उसका पीछा करती हुई नीरजा

की नजरें मुंह किंचित लटकाकर आ रहे अनिल से टकरा गयीं।

पास उसके पहुंचते ही नीरजा ने बगल की कुर्सी पर बैठ जाने का इशारा करते हुए उससे पूछा-''परेशान क्यों लग रहे हो?''

''क्या कहूं, मामीजी! ये तो पूरी मायानगरी है। इतने सारे उम्मीदवार एक अदद पोस्ट के लिए और लगभग हर कोई मोटे-मोटे बायोडॉटा वाला। अपना तो कोई चान्स ही नहीं लगता।''

''पर इंटरव्यू कैसा गया?''

''ठीक ही था। जवाब तो मैंने सही ही दिए पर वे सारे के सारे ऐसा मुंह तानकर बैठे थे कि पता ही नहीं चल पाया...''

''चलो, छोड़ो इस बात को। गरमागरम पकौड़ियां खाओ, चाय पियो और भूख ज्यादा लगी हो तो कुछ और भी बनवा देती हूं।''

पायोनिमा 'कुछ और' पर उसका जवाब सुनने ठिठकी रही। पर अनिल ने प्याज की दो पकौड़ियां एक साथ मुंह में डाल लीं, फिर उन्हें थोड़ा चबाकर चाय की एक लंबी घूंट के साथ लेते हुए तृप्त भाव से बोला ''कुछ और की दरकार नहीं, मामीजी। क्या गजब तनावतोड़ पकौड़ियां हैं।''

पायोनिमा तो मुस्कुराते हुए चल दी पर नीरजा ने थोड़ा चौंक कर दुहराया-''तनावतोड़.. .पकौडियां।'' और कहा-''तो नए-नए शब्द बनाने का भी शौक रखते हो?''

अनिल ने आधी पकौड़ी रखे मुंह पर हाथ रखकर खाँसी में बदल गई हँसी नियंत्रित करते हुए कहा-''तनावतोड़ शब्द तो ऐसे ही हँसी-हँसी में बन गया था। मैं कितना भी हैरान-परेशान या थका-मांदा घर पहुंचू और छुटकी ज्योंही हँसे सारा तनाव, सारी थकान हवा हो जाए। एक दिन मैंने चित्रा से कहा कि छुटकी की हँसी तो तनावतोड़ हँसी है...।'' और छुटकी की बात शुरू क्या हुई, अनिल के चेहरे पर ऐसी ताजगी छा गई जैसे अभी-अभी नहाकर निकला हो।

नीरजा के मन में यह ख्याल आए बिना नहीं रहा कि बच्चों का होना जिंदगी के मायने ही बदल देता है, जीने के लिए एक मकसद मुहैया कर देता है।

तभी पायोनिमा वापस आ पहुंची और नीरजा की ओर थोड़ा झुकते हुए आहिस्ता से बोली-''मैडम, वो आपको बनाना...''

'हां! हां। चलो आती हूं।'' उससे इतना कहकर नीरजा ने अनिल से कहा-''मैं जरा किचेन में जा रही हूं। तुम चाहो तो टेलिविजन देखो।'' किंचित अनिच्छा से लॉन से उठते हुए अनिल नीरजा के साथ-साथ ड्राइंगरूम की तरफ आया और टेलिविजन के सामने बैठते-बैठते पूछ बैठा-

''मामाजी को दफ्तर में देर लग जाती है क्या?''

''हां ऽ ऽ। देर से ही आया करते हैं।'' इतना कह कर वह चौके की ओर चली गई।

टेलिविजन पर चैनल बदलते-बदलते देखने लायक कुछ भी ढंग का न पाकर अनिल कुर्सी पर ही ऊंघने का मन बना रहा था कि नीरजा चौके से वापस आ गई। उसे देखते ही अनिल बोला-''मैं तो मामाजी को अपने इंटरव्यू का हाल बताकर उनकी राय भी लेना चाहता था पर वो तो अभी...''

तभी बाहर कार रुकने की आवाज हुई और नीरजा बोल पड़ी-''आ गए।''

घुसते ही विजयशंकर ने अनिल से पूछा-

''हो गया काम?''

''काम का तो पता नहीं, मामाजी। बस इंटरव्यू हो गया।'' इतना कहकर अनिल राय जानने की भूमिका के रूप में इंटरव्यू का बखान करने की मनःस्थिति में आ ही रहा था कि विजयशंकर ने अंदर के कमरे की ओर रुख कर लिया। नीरजा ने उसकी मनःस्थिति ताड़ ली और धीरे से कहा-''डिनर के वक्त बात कर लेना।''

''हां, हां।'' उसकी बात पर खुश होकर अनिल ने सिर सहमति में हिलाते हुए कहा।

वैसे भी विजयशंकर खाते हुए न के बराबर बोलते थे। अनिल के इंटरव्यू पुराण पर भी वे कुछ देर स्वभावतः उसी मुद्रा में बने रहे तो अनिल ने लंबा सा मुंह बनाकर नीरजा से कहा-

''इंटरव्यू के लिए निकलने के बाद से एक ही बात मेरे साथ ढंग की हुई है।''

''क्या?'' नीरजा ने एक नजर पति की ओर डालते हुए कहा।

''इतनी बढ़िया मेथी बनवाकर खिलाई आपने।''

नीरजा ने हल्के से मुस्कुराते हुए कहा

''मैंने खुद बनाई है।''

''अच्छा!'' अनिल ऐसे मुंह बा दिया जैसे नीरजा ने कोई अजूबा कर दिखाया हो। फिर वह कुछ और कहने के लिए उद्यत हुआ ही था कि नीरजा बोली-''अब इस मेथी के लिए कोई शब्द ईजाद कर रहे हो क्या?''

''नहीं...'' अनिल ने हँसते हुए कहा।

इस वार्तालाप पर विजयशंकर का भी ध्यान आकृष्ट हआ और उन्होंने पत्नी से पूछा-

''क्या लतीफा चल रहा है?''

''कुछ नहीं। इंटरव्यू के बाद अनिल थोड़ा निराश लग रहे थे। मूड ठीक कर रहे हैं।'' इतना कह कर नीरजा ने अनिल के चेहरे पर एक नजर डालकर पति से कहा-''इनकी बात बीच में ही रह गई। थोड़ा इनसे इंटरव्यू का हाल सुन लें।''

''हां...हां।'' विजयशंकर बोले।

अनिल ने जल्दी-जल्दी सारा किस्सा फिर बयान कर दिया और आतुरता से पूछा-''आपको क्या लगता है, मामाजी? कुछ उम्मीद लग रही है मेरे लिए?''

विजयशंकर कुछ देर चुप रहे, फिर 'एक ऐसा विश्लेषण पेश किया जिसका सिर-पैर न समझ पाने का भाव अनिल के चेहरे पर गहरा गया। पर वह शायद लिहाज में कुछ बोला नहीं।

सारे लोग खाना समाप्त कर चुके थे। नीरजा ने अनिल के चेहरे पर एक नजर डाली और उससे कहा-''अब जाओ सोने और इंटरव्यू को भूल जाओ। एक ही बात पर कब तक सोचते रहोगे।''

''ठीक कहती हैं, मामीजी।'' अनिल ने एक जम्हाई ली।

ओस से भीगी हुई घास पर नीरजा नंगे पैर चक्कर लगा रही थी। इस वेला में उसका एक-एक पल निर्धारित कार्य के लिए नपा रहता था। बीस चक्कर लगाना है और फिर तुरंत मेहमानों के स्वागत में चुगने का सामान सजा देना है। इन मेहमानों के पास घड़ी नहीं है, न

ही वे घड़ी का महत्व समझते हैं पर उनके बदन के भीतर फिट जैविक घड़ी का सिगनल मिलते ही वे उतरने लगते हैं अपने-अपने समय पर इस लॉन में एक तय स्थान पर रखे हुए अपने-अपने चुग्गे के पास।

यह काम नीरजा खुद करती थी और इसमें न किसी की मदद लेती थी, न किसी का दखल पसंद करती थी। गृहकार्य में वर्षों से उसकी छाया बनी हुई पायोनिमा ने शुरू-शुरू में साथ लगना चाहा था पर नीरजा ने दृढ़ता से मना कर दिया था। नीरजा का मानना था कि अपने इन मेहमानों का अलग-अलग मिजाज सिर्फ वही समझ सकती है, सिर्फ वही उनसे संवाद कर सकती है और सिर्फ उसको ही ये तमीज है कि इन मेहमानों का बिला नागा हर रोज आना-चुगना कितनी बड़ी नियामत है।

हमेशा की तरह काला कौआ सबसे पहले आया, उतरते ही अपने चुग्गे के कटोरे पर झपटता सा हुआ। ''धीरज रख, गुंडे...'' यह कहते हुए नीरजा ने उसका स्वागत किया। दो-चार चोंच मार कर उसने सामने देखने का उपक्रम किया, जैसे खाद्य-सामग्री को तसल्लीबख्श पाने का संकेत दे रहा हो। नीरजा हल्के से मुस्कुरा दी, जैसे उसके संकेत को समझ लेने का प्रतिसंकेत दे रही हो।

दो-तीन मिनट बाद दो हरियर तोते एक साथ फड़फड़ करते हुए आए जैसे चुगने की प्रतियोगिता में डबल्स मैच खेलने उतरे हों। तत्काल काले कौए की मुंडी उधर मुड़ी।

''कोई गड़बड़ नहीं...वे अपना चुग्गा खाएंगे, तू अपना खा।'' कहते हुए नीरजा ने कौए को चेताया। थोड़ी देर तक कौआ और तोते चुपचाप चुगते रहे। फिर एक धोबिन चिड़िया आई, पंख ऐसे फुलाई हुई जैसे बारिश में भीगने के बाद उन्हें सुखाने की कोशिश कर रही हो।

''तू अपने कोने में बनी रह, मुटल्ली...''

नीरजा ने उसे आगाह सा किया तो वह वाकई कौए और तोतों से दूर ही रही।

इस समय नीरजा मनसा-वाचा-कर्मणा जैसे किसी चिड़िया-टापू पर अवस्थित थी, इंसानों की संक्रामक बेहूदगियों-बदतमीजियों की पहुंच से दूर।

तभी सामने एक मैना प्रकट हुई, दाएं-बाएं देखे बिना सीधे अपने चुग्गे के कटोरे की ओर बढ़ती हुई। उसे देखते ही नीरजा का चेहरा कुछ ज्यादा ही खिल गया और वह बोल पड़ी-

''आओ ऽ ऽ। आओ, हीरोइन। तुम्हारी ही कमी खल रही थी।

फुदकने के लहजे में चलती हुई मैना की मुंडी इतनी मोहक लय में हिलती जा रही थी कि मुदित भाव से उसे निहारते-निहारते नीरजा भी उसी अंदाज में अपनी मुंडी हिलाने लगी।

दोनों तोते दो दिशाओं से धीरे-धीरे मैना की ओर खिसकने लगे। ज्यों ही यह नीरजा की नजरों के दायरे में आया वह तेजी से बोली-

''खबरदार, मुस्टंडों! चार दाने पेट में गए नहीं कि आशिकी सूझने लगी। जाओ, वापस अपने कटोरे के पास जाओ...''

तभी एक ठहाके से बुरी तरह चौंककर नीरजा का सिर पीछे घूमा।

''वाह, मामीजी। आप तो चिड़ियों से बातें कर रही हैं। हा ऽ हा ऽ।''

अनिल पता नहीं कब पीछे आकर खड़ा हो गया था।

गुस्से की सुरसुरी नीरजा के पूरे शरीर में रेंग गई। बेसाख्ता उसके मुंह से निकल गया-

''तो किससे बात करूं? तुमसे? तुम तो एक दिन के मेहमान हो, ये तो...''

और तभी पीछे कुछ आहट हुई तो नीरजा का सिर वापस चिड़ियों की तरफ घूम गया। कौआ तो उड़ गया था पर दोनों तोते मैना के बिलकुल पास पहुंचकर उसे चोंच मारते जैसे लग रहे थे।

''मत करो परेशान उसे...अभी सारी आशिकमिजाजी निकाल दूंगी। पेट भर गया हो तो भागो यहां से...''

तोते वाकई जैसे डर कर थोड़ा पीछे हटते हुए से लगे।

चिड़ियों के चुगने-चुगाने का कार्यक्रम सम्पन्न होते ही नरीजा को अनिल का ख्याल आया। वह वापस कमरे की ओर आई और वहां उसे न पाकर चौके की तरफ गई और चाय बनाने की तैयारी कर रही पायोनिमा से पूछा-''क्या मेहमान के लिए चाय बना रही हो?''

''हां!''

''पर वो है कहां?''

''आपकी तरफ ही तो गए थे। फिर मुझसे आकर कहा कि एक कप चाय मिल सकती है क्या।''

''अच्छा, तुम हटो। मैं चाय बनाती हूं।''

चाय बनाकर नीरजा ने दो कप तैयार किए और अनिल को खोजते 'हुए गेट के पास पहुंची जहां वह आराम से पीठ खंभे से टिकाए हुए खड़े-खड़े अखबार पढ़ रहा था।

''गुड मार्निंग!'' मुस्कुराते हुए नीरजा ने उससे इतना कहा तो अनिल का किंचित संशयग्रस्त लग रहा चेहरा एकदम से खिल गया।

''शायद मुझसे नाराज हो, हो न?''

''नहीं...'' अनिल शरमा सा गया।

''पर मैंने तुम्हें नाराज करने वाला ही काम किया था। कितनी कड़ाई से बोल बैठी थी तुमसे! क्या करूं? मेरा वह समय सिर्फ और सिर्फ मेरे उन रोज के मेहमानों के लिए होता है। तुम्हें मालूम होगा ही नहीं पर उस समय मैं किसी भी तरह का...''

नीरजा बोलती चली गई।

अपना कप लगभग पूरा खाली करके नीरजा के कप को वैसे का वैसा देखते ही अनिल ने टोका-

''मामीजी, आपकी चाय।''

''हां...'' एक ही चुस्की में आधा कप खाली कर नीरजा वापस अपनी बात आगे कहती गई। अंत में एक लंबी सांस छोड़ते हुए वह बोली-''मेरा सबसे अच्छा समय सबसे सार्थक समय वही होता है। और इस बात को कोई दूसरा व्यक्ति समझ ही नहीं सकता।''

विजयशंकर सुबह जिमनैजियम के लिए निकल जाते थे और वहां अपनी तोंद को गायब करने के उद्देश्य से की गई पसीना बहाऊ कवायद के बाद लौटकर नहाते थे।

नीरजा ने अनिल के तैयार होने के बाद नाश्ता लगवा दिया और उससे कहा-''तुम नाश्ता

कर लो, मामाजी का इंतजार मत करो। तुम्हें आज वापस भी जाना है।''

अनिल नाश्ते के लिए बैठते हुए बोला-

''मामाजी बहुत व्यस्त अफसर लगते हैं।''

नीरजा के चेहरे पर व्यंग्य का भाव झलककर तुरंत गायब हो गया।

उसके नाश्ता खत्म करने के बाद नीरजा ने कहा-

''जरा अपनी अटैची खोलना।''

और उसकी अटैची में एक गुलाबी पैकेट रखवाते हुए नीरजा ने कहा-''यह छुटकी के लिए है। जिस नानी को उसने देखा नहीं उनके आर्शीवाद के रूप में।''

विजयशंकर दफ्तर के लिए निकल चुके थे। अनिल अखबार का बाकी बचा हिस्सा पढ़े जा रहा था और बीच-बीच में घड़ी पर भी नजर फिरा लेता था।

नीरजा नहाकर आयी और आते ही अनिल से पूछा-

''अभी समय हुआ तो नहीं तुम्हारा?''

''बस दस मिनट मे निकलूंगा। दिल्ली के ट्रैफिक का कुछ पता नहीं न।''

मेहमान को विदा करने पायोनिमा भी आई। चलते-चलते अनिल ने उसे नमस्कार किया और कहा

''आपकी बनाई चाय याद रहेगी।''

पायोनिमा के चेहरे पर अपनी सामाजिक स्थिति से कहीं ज्यादा सम्मान मिलने से अभिभूत होने का भाव झलक गया।

इस बार अनिल ने नीरजा के पैर छूकर कहा-''एक ही दिन में बहुत कुछ सीखा आपसे, मामीजी।'' नीरजा मुस्कुरा दी। फिर कहा-''शायद तुम्हें इसका अहसास न हो पर मैंने भी तुमसे बहुत कुछ सीखा।''

अनिल के चेहरे पर थोड़ा आश्चर्य झलक आया।

''और जाते हुए इस बात का वादा करो कि अपने लिए जो भी ढंग की पोस्ट इधर निकलेगी उसका इंटरव्यू देने आओगे और साथ में चित्रा और छुटकी को भी लाओगे।''

''जरूर...मामीजी।''

जाते हुए अनिल को नीरजा तब तक देखती रही जब तक वह दृष्टि के दायरे से बिलकुल बाहर ही न निकल गया।

❐❐

मलय की कविताएं

राहत कभी नहीं मिलती

राहत कभी नहीं मिलती
बेचैनी साथ नहीं छोड़ती
तो भी पांव
कहीं नहीं रुकते
कभी नहीं थकते
भटकना भी
वहां पहुंच पाता है
जहां स्रोत से
झरना निकलता है
बहना लगातार जारी रहता है

यात्राएं कभी पूरी नहीं होतीं
अधूरी
लगातार बढ़ती ही रहती हैं

इस तरह अपने को पूरा दे देने की
अधूरी सी पहुंच
यह खिंचकर रबर का
बढ़ा हुआ
रूप लेती जाती है

इसलिए भी
हमेशा आपके बाद

कोई आता है जरूर
अपने से जोड़कर
आगे बढ़ जाएगा
अपने में-
हमको भी
शामिल कर लेगा
राहत थोड़ी सी मिलेगी

पूरी तरह कभी नहीं मिलती
जलती हुई आग
मंद होना
फिर धीरे से बढ़ते जाना है
फैलती परिधि में
अधूरा हो जाने पर भी
राहत में रुकना
धीरे से राख हो जाना है
हवा मे उड़ जाना है

राहत सुख नहीं
एक संदेह है
यात्रा में चलने या दौड़ने का
दम रखने वाला दिल
दरिया होता है
(समुद्र कतई नहीं)
उसका
बेचैनी साथ नहीं छोड़ती
निरंतरता
नाहक नहीं होती!

जब सांसें

जब सांसें
फेफड़ों को खींचकर
फाड़ने लगें

जब आंखें
देखने में चौंधयाएं
चक्कर खा चकराएं

कान सुनकर
अनसुनी अनुमानें
खौल जाएं खिसियाएं
जैसे खुद को ही
बिना रुके खाएं

समझ की शून्यता का पत्र
जब हवाओं में
फड़फड़ाए
फट जाए
मौत के झपट्टों में
मौसम
शामिल होने लगे
बवंडर चुप रहकर
जड़ों से हिलाने लगें

वक्त
पहचानिए
जन्म से आज तक
खुद
अपने को
सही तरह जानिए

तरलता हो जाइए
घुल जाइए

जब सांसें
सांप होकर
फेफड़ों को डसें!

तरंग की रोशनी

बोलने और
बजने से अलग करके
मुझे भाषा ने लिखने में
लाकर
सींचा और हरा किया
तभी झुके घुटनों को
जैसे आकाश ने
इशारे से
सहारा
देकर उठाया

अब तो हवाएं भी
चाहे अनचाहे
अपना भी साथ जताने
चलती हैं

सांसों पर सधी हुई
ध्वनि की तरंग की
कोई रोशनी है
अपनी तरह से आगे
बढ़ाती रहती है

आखिर यह उम्र है
बहुत छोटी पड़ती है
लिखने के लाख कदम बढ़ाती
अपनी मंशा के उजेले से
कितनी दूरी के कागज में
बचती है
रचती है!

चुनिंदा बेटियां हैं

झरते पत्तों से

हवाएं
बात करती हैं
भले ही हमारे कान
सुन नहीं पाते हैं

सांसों की जड़ों के
फैलते वितान
इन्हीं से जुड़े हैं
यहीं से धूप की धन्यता को
धीरे-धीरे कोपलों के
पत्र लिखे जाते हैं

इसी के बल पर
पानी का
पूरा पुरुषार्थ
तने पर चढ़कर
ऊपर आता है

प्रकृति की आभा से
भरा हुआ और और
हवा से हरा होता
आता है भविष्य

अनदिखे हाथों की
सहज बनी रहती
हलचल से
फल की संभावनाओं का
खोजा हुआ समाधान
वक्त पर तय होता रहता है

यहां तक आकर
अचरज हमें फटकारता
कह जाता है
मनुष्य की सांसें
हवाओं की

चुनिंदा बेटियां हैं
जो शरीर के अंदर के
तने से

लिपटी-उकलती रहती हैं
जिनके छोर को
आज तक कोई भी
छू नहीं पाया है
और स्वाधीन इतनी हैं
मंशा हुई उनकी
बस फुर्र हो जाती हैं

कलापों में

घेरती मजबूरियों में
अंदर से खलबलाकर
दरार
दिरका पाने की
कामयाबी से
बांध को फोड़कर
नदी हो जाने की
उम्र होकर
बहता हूं

जल जैसा
सच्चा पारदर्शी
अपने कलापों में
कला की भी आंतरिक ऊष्मा से
अपनी कमजोरी से
निजात पाकर
बाहर आने की
पूरी भागदौड़ में
भटकते
पहुंचने का
आदी हो गया हूं

बेचैनी
सधी हुई
असंभव की आंच में
तपती ही रहती है
स्वभाव की सरणि का
लिखा हुआ
लेख
एक!

आगत हो जाता हूं

समय में सबूत के बीजों की तरह
कागज पर दौड़ता
निकल आया
लिपि के अंदर से
सरसराकर चलता
उमड़ता
अनदिखें बादलों सा
बरसता बूँदों में
पानी हो
मिट्टी में बहकर मिल जाता

हर बार
नया-नया अन्वेषित
छा जाता
निश्शेष होकर भी
पूरा बच जाता
अपनों का
आगत हो जाता हूं

❐❐

ऋतुराज की कविताएं

हिंदी के प्रख्यात कवि ऋतुराज इन दिनों महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर में 'राइटर-इन-रेजिडेंस' के रूप में एक वर्ष के प्रवास पर हैं। वे हिंदी के ऐसे विरल कवि हैं जिनकी कविताएं पाठकों के भीतर एक नई संवेदना का विस्तार करती हैं। बहुवचन के इस अंक में हम पाठकों के लिए उनकी वर्धा प्रवास के दौरान लिखी गईं पांच कविताएं प्रस्तुत कर रहे हैं।

नागार्जुन सराय

महानता के आश्रयस्थल
यदि होते हों तो इसी तरह
विनम्र और खामोश रहकर
प्रतिमाएं अपना स्नेह
प्रकट करती रहेंगी

देखो न, यह पूंछ-उठौनी
नन्हीं चिड़िया
किस बेफिक्री से
बैठी है नागार्जुन के सिर पर

अरी, तू जानती है इन्हें?
कब तेरा इनसे परिचय हुआ?
बाबा तो हैं पर क्या
तेरी पूंछ को पता है
स्पर्श करते ही सिर के भीतर

ठुंसी कविताएं बोलने लगेंगीं?

नागार्जुन उर्फ वैद्यनाथ मिश्र
'यात्री' यानी सतत भगोड़े
परिव्राजक
न जाने आदमी थे या घोड़ा
ये दरभंगा जिले के तरौनी
गांव की पैदाइश थे
अभी जीवित होते तो मसखरी में
तुझे अपने झोले में डालकर चल देते
''ला, कोई किताब दे''
भले ही संस्कृत, बांग्ला, मैथिल, हिंदी
किसी भी भाषा में हो
छंद अछंद
अगर अभी अकाल पड़े तो कहेंगे
''सूखे में ठिठकी है पूंछ-उठौनी की पूंछ''

फिर भी थे बड़े मस्तमौला
कटहल पके तो नाचेंगे
कनटोपे से झांकेगे
आधी आंख आधी फांक

मंत्र जाप की फूंफा से
उड़ा नहीं पा रहे अपने सिर पर
बैठी पूंछ-उठौनी चिड़िया
समझ नहीं पा रहे
कैसा समय आया यह
कि हर ऐरा-गैरा चढ़ रहा
कवि के सिर पर
लेकिन कह नहीं रहा
राजनीति से बिखरते देश की बात

नागार्जुन ने बदला तो नहीं कुछ
लेकिन राजनीति से
रोमांस तो किया ही भरपूर

यानी विद्रोह भी और स्वीकार भी
धिक्कार भी प्यार भी
कविता भी नारा भी
विद्रूप भी सौंदर्य भी

''यह क्या मैं तेरी हिलती
पूंछ जैसा भी-भी कहे जा रहा हूं!!''

बाबा के सिर पर
मुकुट है
मटमैली भूरी-लाल उठौनी का
भाल पर तिलक नहीं
निरंतर फहराती हुई
कलंगी है ऊपर

छात्रावास में कविता-पाठ

कोई पच्चीस युवा थे वहां
सींटी बजी और सबके सब
एकत्रित हो गए

कौन कहता है कि वे
कुछ भी सुनना-समझना नहीं चाहते
वे चाहते हैं दुरूस्त करना
समय की पीछे चलती घड़ी को
धक्का देना चाहते हैं
लिप्साओं के पहाड़ पर चढ़े
सत्तासीनों को नीचे

कहां हुई हिंसा?
किसने विद्रोह किया झूठ से?
भ्रम टूटे मोहभंग हुए और प्रकाश के
अनूठे पारदर्शीपन में
उन्होंने सुनी कविताएं और नए
आत्मविश्वास से आलोकित हो गए

उनके चेहरे

क्या वे अपना रास्ता खुद खोजेंगे?
क्या इससे पहले ही
उन्हें खींचकर ले जाएंगे
राजनीति के गिद्ध?

नहीं, कविताएं इतनी तो
असफल नहीं हो सकती
उनमें से कोई तो उठेगा और कहेगा
हमें बदल देना चाहिए यह सब...

परिसर

जंगली फूलों ने लॉन के फूलों से
पूछा, बताओ क्या दुःख है?
क्यों सूखे जा रहे हो?
दिन प्रतिदिन मरे जा रहे हो!!

पीले, लाल, जामुनी, सफेद, नीले
पचंरगे फूल बड़ी शान से
बिना पानी सड़क के किनारे
सूखे में खिल रहे थे
हर आते-जाते से बतिया रहे थे
डरते नहीं थे सर्र से निकलते
सांप से
ड्रोंगो के पतंगे को झपटने से
किंगफिशर की घोंसला बनाने की
तैयारी की चीख से

खुश थे कि शिरीष पर,
बुलबुलें एक दूसरे को खबरें सुना रही हैं
कि पीपल में ढेरों गोल लगे हैं
पूंछ-उठौनी पानी में डुबकी लगा रही है
मैनाएं मुंह में तिनके दबाए

अकड़ कर चल रही हैं

जंगली फूल खुश थे
कि गुलदस्ते में नहीं लगाए जाएंगे
धूप के तमतमाने पर भी इतराएंगे
जबकि सुंदर से सुंदर भी
पिघलने कुम्हलाने से नहीं बचेगा
वे जीने का उत्सव मनाते रहेंगे

इसी तरह हँसेंगे
लॉन पर बैठे बौद्धिकों की बातों पर
बातों से अघाए फूलों पर
ताड़ के रुंआसे पत्तों पर
और उन गुलाबों पर जो इतनी जल्दी
खिलने से पहले बिखर गए
वे मोगरे जो रात में चुपचाप
धरती की सेज महका कर दिवंगत हो गए

वे फूल जो आजीवन प्यासे रहे
और मर गए
काश, जंगल में उगे होते
काश, वे आदिवास की जिजीविषा में
हर दुःख, कष्ट, विपन्नता में
प्रस्फुटित हुए होते

वे जान पाते निर्बंध जीवन का उल्लास
मना पाते कारावास की दीवारों से
बाहर रंगोत्सव
काश! काश!!

सेवाग्राम

कई तरह के समय थे
वे लोग सबके दस्तावेज
तैयार करने में लगे थे

कुछ ही पढ़े जाने थे

मेरे समय में दूसरों के समय ने
प्राणघातक चीरा लगाया
उनकी खबरों ने मारकाट की
विवश एक लड़की का समय था
जिसमें चीरफाड़ करते रहे
खबरनवीस और राजनीतिज्ञ
उन राजनीतिज्ञों के समय में
होती रहीं परमविशिष्ट हवाई यात्राएं
दौड़ती रहीं रेलें

भवननिर्माता मजदूरों के समय में
टूटे नलकों से रिसता रहा पानी
प्रयोगशालाओं में आयातित
और अप्रसांगिक पर परीक्षण
करते रहे समाजवैज्ञानिक
कातते रहे लेखक सुंदरता का सूत
लास्य नृत्य की साजसज्जा में लगे रहे कलाकार
रंगों के लालित्य की महिमा
बखानते रहे चित्रकार

गोया, सब अपने अपने समय में जी रहे थे
तब चुपचाप सत्ता जनपदों से
सामंतों के हाथों में चली गई
चुपचाप दीवार घड़ी की सुइयां
गिनती रही दिन रात
और टंगे रहने का संतुलन बना रहा

एक समय वह भी था
जो अब रहा नहीं
जो छिन्नभिन्न हुई आशाओं
स्वप्नों और आकांक्षाओं से पहले
दासता से मुक्त होने की
उमंग से भरा था

उस समय मिट्टी की एक कुटिया में
वह बूढ़ा बांसों की जाली से
ताजा हवा आती महसूस कर रहा था
पीपल के नीचे बैठा सुबह-शाम
सोचता था
कि अब सब कुछ ठीक होगा

कुछ भी ठीक नहीं हुआ

जब हम नहीं रहेंगे

सड़क का कर्ज था शिरीषों पर
निर्जन पगडंडी के बजाए
साफ-सुथरा रास्ता सब के लिए
और लो, जो तुम बीच में
अड़े हो
अपना सर्वस्व दे दो
दूसरों के लिए

इससे पहले कि धड़ अलग होंगे
फूटने दो फलियां फैलने दो बीज
कि चारों तरफ शिरीष-संतति रहे
भले ही हम न हों
न हो हमारा कर्ज उनके माथे

सब कोई आए अपना धन मांगने
ब्याज में फूल परागण
गंध देने से नहीं चला काम
कोयलों की कूंक बुलबुलों के गान
तितलियों के नाच
सब व्यर्थ गए

सूदखोरों ने कहा ''सिर्फ अधूरे ब्याज से
नहीं चलेगा काम
सिर्फ छायाएं नहीं होतीं विश्राम

सिर्फ सुगंध से नहीं होती
मूलधन की वापसी
जन्म लेने से पहले तुम्हें सोचना था
कि भविष्य जीवन-मृत्यु का
संघर्ष होगा''

''अन्नदाता, हम इस संसार से
चले जाते हैं
पर तब भी क्या
हमारा परिवार को काटेंगे पीटेंगे?''
''नहीं, तब नहीं
जब तुम्हारा कोई जमानती नहीं होगा''

नहीं, नहीं, नहीं
सड़क पर
घूमता था रोडरोलर
वे शिरीष जो अब नहीं रहे
कोई उनसे क्या कहेगा

❐❐

श्याम कश्यप की कविताएं

बारिश में श्रीनगर

नमक के डलों-सी
बादलों में घुल गईं
पहाड़ों की चोटियां
कबूतर की आंख सरीखे
बर्फ-ढके शिखर सभी मुंद गए
छिप गईं ओट में सारी पगडंडियां।

शांत जल में डल के
उठने लगीं हिलोरें
तीर की तरह गुजरने लगे
तेजी से शिकारे एक इधर एक उधर से
डोलने लगे हाउस-बोट लहरों के वेग में।

तेज बारिश और हवाओं ने
रुख बदल दिए पल-भर में
मौसम के तपिश-भरे
आतशी मिजाज के।

श्रीनगर की सड़कों पर
दोस्तों के साथ भटकते
बारिश में भीगने का मजा ही कुछ और है!

कितना सुकून मिलता है फिर

'लिंज'* के नीम अंधेरे
और हलके उजालों में
भीगे कपड़ों में ठिठुरते
जाफरान वाला महकता कहवा पीते हुए

और शब्दों के अर्थ
समझे बिना भी
कश्मीरी गीतों की मीठी धुन पर सिर धुनते हुए।

नगीन के हाउस-बोट में

डल के भारी भीड़-भड़क्के
और बुलेवार के शोर-गुल से दूर
अली-अकबर हाउस-बोट में
बिल्कुल घर-जैसे घेरे है आत्मीय अपनापन!

सामने पहाड़ों के घेरे से घिरी
चांदी की जड़ाऊ अंगूठी में जड़े
नीले नीलम के नगीने-सी नगीन
डल से गलबहियां डाले सगी उसकी छोटी बहन!

नगीन लेक की शांत नीली सतह पर
न बाजार ओर सौदागरों की गहमागहमी
न तीर-जैसे झपटते शिकारे कहीं
बस, डुबकी मारती मछलियों को खुला क्रीड़ांगन!

पके केसर की मंद-मंद महक की तरह
हल्की हवाओं के परों से लिपट
जैसे चौतरफा उड़ रहा हो
संतूर की किसी मध्यम रागिनी का खिला हुआ फन!

---

* लिंज :श्रीनगर में मौलाना आजाद रोड पर शेर-ए-काश्मीर पार्क के पास एक शानदार रेस्त्रां 'कैफे द लिंज' जहां हम कहवा पीने और कभी-कभार खाना खाने जाते थे। वहां के मैनेजर और बेयरों से हमारी खासी पहचान हो गई थी। कह सकते हैं, दोस्ती भी।

हरियाली से घुले-मिले घुले-मिले
अपने नक्काशीदार हाउस-बोटों के साथ
एंकातवासिनी नगीन के पड़ौसी हैं
शंकराचार्य, हजरतबल और हरिपरबत के वन-वन!

सौंदर्य-चित्रित इसके रंगीन झिलमिल
सुनहरे पर्दों के पीछे छिपी है, गरीबी
तकलीफें बेशुमार और दर्द बेपनाह-
रोजमर्रा की कड़ी जिंदगी के कठिन!!

डूबते सूरज की लाली से टपकता लहू
बादलों की सुरमई चादरें भिगोता
सदियों के रिश्तों-मुहब्बतों को तोड़ता
घिरा आ रहा तूफां नफरतों का पल-छिन पल-छिन!

सामराजी साजिशों की डोर से बंधा
पड़ोसी सियासत का गंदा मोहरा बना
कितना बदल चुका है कश्मीर मेरा
खून के आंसुओं में डूबा हरेक जन-मन!!

मुगल बागान में

चश्मे-शाही का बर्फीला पानी है
या आब-ए हयात
इसे पीते-पीते भी
हैरानी कि छुटी नहीं शराब
जहांगीर की

नूरजहां की पाजेब,
बह गई होगी
यहीं कहीं, यहीं कहीं
चश्मे की रफ्तार की उंगली पकड़!

इन चश्मों, इन बागों
इन नाचते फव्वारों

इन वादियों में दूर
विशाल डल की चमकती
कौंध में डूबते-उतराते
मैं कभी पीछे कूद जाता हूं
धीरे से इतिहास की खिड़की खोल

तो कभी भविष्य की
अधमुंदी संधों में
सरक जाता हूं चुपचाप
धूप की नरम-नरम सुनहरी लकीर बन!

फिर भी वर्तमान का
कोई एक खौफनाक डर
छा जाता है दहशत का साया बन

गीध के भारी-भरकम
बदबूदार पंख फैलाता है
स्पंज की तरह दिल को निचोड़
काल अपने खूनी पंजे दिखलाता है!!

डल पर शिकारे में

शाम के घिरते अंधियारे में
एक झटके से फेंक काले लबादे
जादुई लिबास से खिल गई डल!

हाउस-बोटों की डोलती कतार
और बुलेवार की रंगीन रोशनियां
बदल गईं झिलमिलाते प्रतिबिंबों की झलक में

चप्पू चलाते शिकारेवाले से
मैंने झिझकते हुए कहा :
रुको, बिरादर, रुको तो जरा;

दरअसल, मैं सहम गया था डर कर

कि तोड़ न डाले कहीं ये सतरंगी झलक
बाज की तरह झपटता हमारा तेज शिकारा!

सिंधु के साथ-साथ

सोनमार्ग तक पूरे रास्ते
कभी दाएं, कभी बाएं
अठखेलियां करती दौड़ती रहीं
हमारी सहयात्री सिंधु की धाराएं

पहाड़ों से कूदती
कभी चट्टानों को फांदती
गहरी घाटियों में बहती रही
संकरे पाट वाली क्षिप्र प्रवेगी सिंधु
हजारों साल से हमारी
प्राचीन सभ्यताओं के उत्कर्ष
कभी प्रायः पतन भी-
इन सबकी सिंधु प्रत्यक्ष साक्षी!

सिंधु को देखते ही
रोमांचित हो-
थरथरा उठा मेरा मन

बस रुकते ही आल्हादित
दौड़ पड़ा मैं बांहें फैलाए
सहस्त्राब्दियों की बाड़ें फलांगता
द्रुत-वेग घोड़े की तरह अयाल झटकारता।

सुनाई देने लगे मुझे
अज्ञात सिंधु लिपि के गीत
नाविकों की हुंकार-
ऋग्वैदिक ऋचाओं के संगीतमय मंत्र!

मुझे सुनाई देने लगा
विशाल चौड़े पाट पर तिरते बेड़ों में

सिकंदर के सैनिकों का बेतरह शोर
ग्रीक भाषा में उछलते आदेश

आते-जाते घोड़ों की टापों के बीच
मुझे नजर आने लगीं युद्धरत सेनाएं
काफिले मेरे सामने ही पार करने लगे
सिंधु का विशाल चौड़ा पाट

लाल दिखने लगा सिंधु-जल मुझे
विभाजन की त्रासदी के खून में रंग कर!

सिंधु के ठंडे छींटे अचानक
मुझे वापस ले आए फिर
मेरे आज के इस अपने समय में

मौजूदा दृश्य के
सौंदर्य से अभिभूत
उतर पड़े हम सब सैलानी
सिंधु की ठंडी धाराओं के बीच

सिंधु मेरे लिए
मात्र एक नदी नहीं
एक जीवित इतिहास है

मेरी जाति की रगों में दौड़ते
खून की रफ्तार के साथ धड़कती!!

कश्मीर के सात रंग

सातों दिन
सात रंग
सात बार
देखे कश्मीर के!

याद आए मुझे

अल्लामा इकबाल
गालिब बार-बार
अशरार तकी मीर के।

शिकारे की सैर
हाउस-बोट डल में
परिवर्तित पल-पल में
मौसम कश्मीर के!

मुंद जाती घाटी
कबूतर की आंख-सी
खिल उठती कभी धूप से
फूट कर बिखरते अनार-सी!

सब कहीं घूमे
बर्फीले शिखरों को चूमे
हम सभी पर छायी रही
सातों पहर सातों दिन मस्ती बहार की!

पाम्पोर की
केसर-क्यारियों में
फूल अभी नहीं थे
अखरोट और खुबानियां
बादाम अभी कच्चे थे;
लगा कि लगेंगे दोबारा
फिर चक्कर कश्मीर के

आज पर बदल गईं
फिर से फिजाएं सब
चोटी का सूर्य हुआ काला
हटने लगा पीछे सहम कर उजाला

फिर घाटी
लाल हुई
खून से लहू से

दिखने लगीं दसों दिशाएं फिर बीमार-सी

इतने दिन कैसे-कैसे
कितने रंग, चेहरे कितने, बदले
कश्मीर की सियासत के, मुल्क की तकदीर के!

पड़ोसी की दुश्मनी और तास्सुब
फिरकों की नफरत की गंदगी
फैल रही सब कहीं सब कहीं
टूटने लगे हैं भरोसे इंसानी जमीर के!

पता नहीं
और कितने
दिखेंगे बदरंग
आने वाले दिन
मेरी वादी-ए-कश्मीर के!
हटे नहीं अभी भी
बादल दुर्भाग्य के
जन्नत-ए-कश्मीर से
खून में इस स्याह तकदीर के
काम नहीं आ रहे कोई भी नुस्खे न जादू तदबीर के!!

जम्मू के विस्थापित-शिविर में

यादों के फटे चोगे भी
झड़ जाते हैं गल कर
विस्थापितों के जिस्म से
जख्मों के मुंह खुले रह जाते हैं

श्यामलाल परदेसी, कवि, मेरा दोस्त
अब नहीं रहा इस दुनिया में
रो रहे हैं गुलाम बट पुष्करनाथ से लिपट
दोनों की बीबियां भी साथ सिर जोड़...

बशीर अहमद सहराई, प्रेमी, शायर, शैदाई

जो चला आया था अनंतनाग से
अपनी कृष्णा कौल के पीछे-पीछे घिसटता
अपना नाम और पता भूलकर पागल हो गया है

काला पड़ गया है झुलसकर कौल साहब का चेहरा
जम्मू और दिल्ली की तेज धूप और गर्मी में दौड़ते
कहीं कोई राह वापस जाती नहीं दिखती है

छूट गई वादी, डल रूठ गई, चिनार जल रहे हैं
सूखती जा रही है झेलम अपने किनारों से सिंकुड़ती!

❐❐

दिविक रमेश की कविताएं

लोकतंत्र के लोकतंत्र में

यह कैसा दौर आया है उम्र का
कि कहना चाहा है सांसद
और निकल गया है संसद!

कितना डरावना भी दिख सकता है
जरूरत पड़ने पर सांसद
और कितनी भली, अपनी सी
दिखा करती है संसद, हमेशा

अक्सर याद आया है वह व्यक्ति
जिसने दी थी कभी अभिव्यक्ति और खतरे की चेतावनी
पर उससे ज्यादा
याद आया है वह क्रूर पिता
जिसकी क्रूरता से डरा
नहीं कहा जा सका कभी क्रूर उसे
और सब्र कर लिया गया
मां, भाई-बहिन वाले बहुत प्यारे, बहुत अपने
प्यारे घर को ही क्रूर कह के
घर कभी क्रूर तो नहीं हुआ न!

जब जब उठानी चाही है उंगली
उठानी चाही हैं कसी हुई मुठ्ठियां
फैल गए हैं हाथ याचकी मुद्रा में, ऐन सही वक्त पर

सार्थक करते हुए कहावत-
शिकार के वक्त कुतिया हगाई
और खुलते ही मुठ्ठियां
स्थापित हो गया है साम्राज्य बेशुमार दीमकों का

जाने सच है या गलत
पाप है या पुण्य
डर है या चतुराई
पर सच यही लगा है इस दौर का
कि डर संसद का नहीं
सांसद का होता है
व्यवस्था का नहीं
व्यवस्था के नियामक का होता है
पुलिस का नहीं पुलिस के सिपाही का होता है

हद तो यह है कि लगा है लगने
कि नहीं बदलता अब व्यक्ति
व्यवस्था के बदल जाने पर भी

यह समय है कि आयु का दौर
कि दिख रही हैं फहराती हर ओर
खतरनाक अभिव्यक्तियों की ढोंगी स्वतंत्रताएं

क्यों लगने लगा है बुढ़ाती आंखों को
कि इस बेबस लोकतंत्र में
न रह गया है अर्थ चुप्पी का
और न ही किसी अभिव्यक्ति का

क्यों लग रहा है कि करते-करते बात चंगुलों की
खुद वक्ता
एक चंगुल में बदलने लगता है
और अपने चंगुल को
दूसरों के चंगुल से कम सिद्ध करने में ही
अपना लक्ष्य पाने लगता है

जानता है
डरा हुआ है
पर मानता नहीं
बस जुटा हुआ है
एक जाल बुनने में भ्रम का, सुरक्षित शब्दों का
संदेह के लाभ का

स्वाभाविक ही है न याद आना ऐसे में
उस मध्यवर्गीय कुत्ते की
जिससे मिलवाया था कभी परसाई ने
जय बोलो हरिशंकर की
भक्तों हाथ उठाओ
और मिलकर बोलो-
जय जय हरिशंकर की।

उनका दर्द-मेरी जुबान

हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी
शायद वह आतंकवादी भी नहीं है
जो भून डालता है महज भूनने के लिए
जिसके पास है भी कोई समझ या दृष्टि
संदेह ही बना रहता है

हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी
शायद यह है
कि हमारे ही सामने, हमारे ही मुहल्लों में
हमारी ही समझ की छतों के नीचे
हमारे दर्दों को भी हमारा नहीं रहने दिया जाता
बस छीन लिया जात है हमसे
न कोई कीमत, न कोई मुआवजा !

कैसी त्रासदी है न
होते ही उनका
हमारा दर्द हमें ही पहचानने से इंकार कर देता है
ओपरा-ओपरा होकर आंखें चुराता है

बड़े घर के कुत्तों सा लगता है घूमने बड़ी-बड़ी गाड़ियों में
कहां-कहां तक पहुंच नहीं हो जाती
क्या इमारतें और क्या बड़े-बड़े होटल
कुर्सी मेजों पर खाना उड़ाता है

कोई कान तक नहीं देता था जिनकी ओर
अब देखिए औकात उनकी
कितना बड़ा अभिनेता हो गया है
निकल-निकल भोंपुओं से
कैसा रंग जमाता है
उसके दर्दीले ठुमकों पर
पूरी दुनिया नागिन सी झूमती है

हमारा दर्द
जो हमें भिखारी तक बना देता था
पहुंचते ही मंचों पर
हमें दाता की मुद्रा में ला देता है
और कवच ओढ़े हमारे दर्दों के वे
(जिनके नाम लेने तक में खतरा है हमें)
हमारी त्रासदी के देवता बन बैठते हैं
और हम?
हमें तो पता ही नहीं चलता
कब क्या हो जाते हैं हम

हां, आहे-बगाहे
जाने क्यों लगता है लगने
कि उनके भोंपू ही नहीं आंदोलन भी
लादे अपने कंधों पर
उन्हें ही ढ़ोते हैं
ढ़ोते हैं जैसे ढ़ोते रहे हैं अपनी मजबूरियां
अपनी भूख और प्यास भी
और डरों में लिपटा अपना गुस्सा भी

क्या नहीं है यह भी हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी

हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी तो यह भी है
कि ताकत है हममें
पर जीते हैं ताकत की मुद्रा में
हममें युद्ध है
पर जीते हैं युद्ध की मुद्रा में
हममें गुस्सा है
पर जीते हैं गुस्से की मुद्रा में
हम फेंक सकते हैं उखाड़ कर
पर जीते हैं उखाड़ फेंकने की मुद्रा में
हममें समझ है
पर जीते हैं समझ की मुद्रा में

हमारे समय की सबसे बड़ी त्रासदी शायद यह भी है
कि हम महज बहस करते हैं
और वे उलझाए रखते हैं हमें बहसों में जिन्हें वे आश्वासन कहते हैं
हमारे मरने का इंतजार करते हैं
और एक दिन हम सचमुच मर जाते हैं
यानी उनके धैर्य पर अपने अधैर्य को कुर्बान कर देते हैं
जबकि इच्छा उन्हीं की होती है कैसी, पर अदृश्य

वे महज मुद्रा में होते हैं बहस की, कहां समझ पाते हैं !

हार-गिर कर
समझ पाते हैं तो बस इतना ही
क्या जाता है अपने बाप का
जो होता है
होते रहने दीजिए

तो फिर बनते रहिए बेवकूफ
क्या जाता है अपने बाप का भी ।

अदृश्य होते हुए

जानता मैं भी हूं कि
लगभग अदृश्य हो रहा हूं

अदृश्य यूं कौन नहीं हो रहा

न वह हवा है, न पानी ही
न पेड़ों में वह पेड़त्व ही

जगत चाचा की कौन कहे
अब तो वे भी जो कभी बेचते थे
बिक रहे हैं सौदों से

मैं तो फिर भी
लगता है महज अदृश्य हो रहा हूं

आज न तसल्ली में तसल्ली है
न दुःख में दुःख
यहां तक कि चालाकियां भी अब कहां रही ढकी-दबी
सरेआम नग्न हैं
घूम रही हैं बेइमानियां पेट फुलाए

चोर चौराहे पर कर रहा है घोषणा कि वह चोर है
हत्यारे को अब नहीं रही जरूरत छिपने की

ऐसे दृश्यबंधों में
सभ्यताओं से दूर
किसी कोने में रह रही अछूती जनजाति में बचे
बल्कि बचे खुचे
थोड़े लिहाज सा
गनीमत है
कि मैं महज अदृश्य हो रहा हूं

वह जो एक रिश्ता था
है तो अब भी
वह जो एक ताप था
है तो अब भी
वह जो एक नाप था
है तो अब भी

यानी और भी बहुत कुछ जो कि था
है तो अब भी
पर कहां... कहां

यकीन मुझे भी हो रहा है
कि हो रहा हूं अदृश्य
एक इबारत की तरह जो चमकती थी कभी
कि जो पढ़ी जा सकती थी कभी
और समझी भी

पर नहीं अफसोस मुझे तब भी
कि हूं तो
हो रहा हूं महज अदृश्य ही

वे रचनाएं भी तो हैं
बाकी है जिनका अभी पढ़ा जाना
चढ़ा जाना जबान और आंखों पर
श्रेष्ठ जनों की

जब समय में से समय ही किया जा रहा हो अदृश्य
तब क्या बिसात है उन पेड़ों की
जिन पर पत्ते भी हैं और रंग भी
पर वही नहीं है
जिसे होना चाहिए था

तब वजूद क्या उन नदियों का
जिनमें जल भी है और लहरें भी
बस वही नहीं है जिसे होना चाहिए था

गनीमत है कि अभी है बचा मुझमें
बस वही
भले ही हो रहा हूं मैं अदृश्य

एक हल्की सी चालाकी सिखा दी गई है मुझे भी
एक गलत क्रियापद को मैंने भी बना लिया है हथियार

रहने को सुरक्षित

गनीमत है कि मुझे याद है इबारत
कि मैं हो रहा हूं
न कि किया जा रहा हूं
अदृश्य।

❐❐

बुड्डुआ

स्वप्निल श्रीवास्तव

कुआं ठीक मेरे घर के सामने था। उसके चारो ओर जगत बनी हुई थी। जिस पर लोग यदा-कदा बैठे रहते थे और गांव गढ़ी की बातें करते थे। वह हमारे गांव का सूचना केंद्र था। उसके पास एक चबूतरा था, जहां लोग नहाते थे और कपड़े धोते थे। कुएं पर ढेकुल चलती थी। ढेकुल चलाना बहुत कठिन काम था। हजारों बार उठ्ना बैठना पड़ता था। एक तरह से यह पानी को दुहने जैसा काम था। लोग ढेकुली से खेत सींचते थे। मैं बहुत छोटा था गगरा (जलपात्र) नहीं उठा पाता था। जब पिता या दादा गगरे से नहाते थे तो मैं उनकी पीठ के पीछे छिप जाता था। गगरे से पानी गिरने की आवाज मुझे बहुत अच्छी लगती थी।

गांव में इस कुएं के अलावा दो कुएं और थे लेकिन उनकी जगत नहीं बनी थी इसलिए बरसात का गंदा पानी इसमे आकर जमा हो जाता था। वह पीने के लायक नहीं होता था। इसलिए गांव के लोग इस कुएं पर ज्यादा निर्भर रहते थे। गांव की औरतें खूब सज-धज कर आती थी। अक्सर वे लाल पीली साड़ियां पहनती थी। उनके पांवों में घुंघुरू की रुनझुन बजती थी और समय संगीतमय हो जाता था। जब वे कुएं से पानी लेकर लौटती थी, उनके देह की लय और लोच देखने लायक होती थी, जैसे वे किसी नृत्य समारोह से लौट रही हों। नई-नई बहुरिया बहुत अच्छी लगती थी। शोहदे उनसे हँसी मजाक करते थे। लोग कौव्वे की तरह इन औरतों को छिपकर देखते रहते थे। बूढें भी कम पाजी नहीं थे। वे भी चुपके-चुपके नैंनसुख लेते रहते थे। जब वे हमारी आखों से ओझल हो जाती थीं, एक उदासी छा जाती थी।

कुएं के ऊपर एक धरन रखी रहती थी जिस पर पांव रख कर ऊबहन (रस्सी) से पानी निकाला जाता था। कुएं के पानी को साफ करने के लिए उसमें मछलियां और कुछए डाले जाते थे। धीरे-धीरे वे बड़े होने लगते थे। उनका वजन कई किलो हो जाता था। वे पानी के देवता थे। वे कुएं में अठखेलियां करते थे। कुएं के पानी को हिलाकर रख देते थे। हम कुएं के चारों ओर बैठकर इस खेल का मजा लेते रहते। कभी-कभी तो कुएं में गिरते-गिरते बच जाते थे।

जब कुएं में गाद जमा हो जाती थी, गांव के लोग मिलकर सफाई करते थे। सबसे पहले कुएं के पानी को कई दिनों तक सुखाते थे फिर कुएं में उतरते थे और गाद निकालते थे। इस काम में बहुत मेहनत लगती थी। वे बहुत चहल-पहल भरे दिन थे। जो लोग काम करते थे उन्हें भोज दिया जाता था। लोग खूब मुंह बोरकर खाते थे और लंबी डकार लेते थे। फिर शैतान की

तरह काम पर लग जाते थे। वे उत्सव के न भूलने वाले दिन थे। अब वे दिन कहां। अब वे लोग कहां? कुएं के पानी की सफाई के लिए लाल रंग की दवा डाली जाती थी। यह कुंआ नहीं हमारे बचपन की गतिविधियों का केंद्र था।

घर में पानी जमा करने के लिए मिट्टी के बड़े-बड़े घड़े होते थे, जिसमें पानी भरा जाता था। महरा सुबह-शाम उसमें पानी भरते थे। जिससे रसोई का काम होता था। औरतें उस पानी से नहाती भी थीं। महरा के कंधे पर पानी ढ़ोते-ढ़ोते गूमढ़ निकल आया था। वे जाति के कहार थे। कभी-कभी डोली ढ़ोते। कहार डोली ढ़ोते समय गाते थे और औरतों के साथ मुराही (मजाक) करते थे। वे बहुत बड़े मुरहा थे। उनकी मुराही मशहूर थी। इस कला में उन्हें कोई नहीं हरा पाता था... उनकी मेहरारू को हम बड़की माई कहते थे। मैं उनके कंधे पर बंदर की तरह बैठकर उनके घर चला जाता था। वे मुझे सोहारी (पूड़ी) और गुलगुला खिलाती थी। जब उन्हें देखता तो कहता बड़की, माई, चल आपणें घर। यह मेरा ताकिया कलाम था। हमारे और महरा के बीच पारिवारिक रिश्ते थे।

हमारे घर को बखरी कहा जाता था वह दो खंड का मकान था। दो खंड के मकान का मतलब जिसमें दो आंगन हो। एक बहुत बडा ओसारा (बरामदा) था, जिसमें गांव की बारातें अक्सर रुका करती थीं। इस ओसारे में हल जुआठे हेंगा और खेती से संबंधित सामान रखे रहते थे। वहां पर गगरा लोटा और डोरी स्थायी रूप से रहता था, जिससे राहगीरों को पानी पिलाया जा सके। दादा मौनी (पात्र) में गुड़ भी रखते थे। हमारे दरवाजे से कोई भूखा प्यासा नहीं जाता था। कुछ राहगीर रास्ता भूल जाते थे। वे हमारे दरवाजे पर रुकते थे उन्हें खाना खिलाया जाता था। अगर खुद खाना बनाना चाहे तो उन्हें सीधा (खाना बनाने की सामग्री) दे दिया जाता था।

कुएं से पानी निकालते समय गगरा बाल्टी लोटा गिर जाता था उसके लिए बुडुआ को बुलाया जाता था। वह जब आता था। दरवाजे पर भीड़ लग जाती थी। हम उसे छिप-छिप कर देखते थे। वह हमारी तरह का आदमी था। देह गठी हुई जैसे रस्सी बुनी हुई हो रंग सांवला, कान में लुर्की (रिंग) पहने हुआ था। उसके दांत में सोना मढ़ा हुआ था जो हंसते समय चमकता था। हमारे जवार में जब किसी के दांत में खोडर हो जाता था तो उसमें सोना भरवा देते थे। बुडुआ कुएं के जगत पर शान से बैठा रहता था। औरतें उसे छिप कर देखती थी। बच्चों के लिए वह कौतुक बना हुआ था...लोगों के चेहरे पर खुशी का भाव था क्योंकि कुएं में डूबी हुई चीजें उन्हें मिलने वाली थी। खोई हुई चीजों को पाने का सुख वही जान सकता है, जिसकी कोई चीज खोई हो। बाकी लोगों के लिए खोना एक क्रिया भर है। बस खेल शुरु होने में थोड़ी देर थी उसने दोनों कान में रुई का फॉहा लगाया और झम्म से कुएं में कूद पड़ा और पानी में गुम हो गया। कुएं में रस्सी लट्का दी जाती थी। वह बारी-बारी से खोई हुए चीजों को रस्सी में बांध देता था, दूसरी रस्सी से अपने को संभालें रहता था। जिसकी चीजें मिल जाती थी, उसके चेहरे पर खुशी देखने लायक होती थी। गांव के लोग उसे पैसे-रुपये की जगह सीधा देते थे। जिससे कम से कम एक माह तक परिवार का खर्चा चल जाता था। वह सबसे साहब बंदगी करता और दूसरे गांव की तरफ रवाना हो जाता था। वह हम लोगों का नायक था।

कुछ दिनों बाद नल संस्कृति का उदय हुआ। जगह-जगह नल गड़ने लगे। कुएं से पानी

लेना कम हो गया। परिंदों की तरह चहकती हुई औरतें घर में ही रुक गई। यह शोहदों के लिए सबसे बड़ा आघात था। बूढ़े भी कम परेशान नहीं थे। वे कुछ कहते तो जगहँसाई होती सो वे मन मार कर बैठे हुए थे। मेरे घर के आंगन में नल गड़ गया था। कुएं से रिश्ता कम होता गया लेकिन नहाने और कपड़ा धोने के लिए उसकी उपयोगिता बनी हुई थी। पहले की तरह चहल-पहल नहीं थी कुएं में अंधेरा भरता जा रहा था। कोई उधर झांकने नहीं जाता था। उसमें रहने वाली मछलियां और कछुए मरते जा रहे थे। उनका शव पानी के ऊपर तैर रहा था। कुएं के लिए बुडुए की भूमिका खत्म हो गई थी। वह बूढ़ा हो चला था। उसने अपने बेटे को कमाने के लिए शहर भेज दिया था। वह भी कुएं की तरह अकेला हो गया था। हद तो तब हो गई जब एक दिन कुएं में नवयुवती की लाश पाई गई। यह कुएं के इतिहास में सबसे बड़ा हादसा था। बहुत दिनों बाद बहुत सारे लोग कुएं पर जमा हुए। जमा होने की वजह बहुत बुरी थी। किसी ने कुएं के दर्द को नहीं समझा। कुएं का पानी सड़ रहा था। ढेकुल इतिहास के बाहर हो चुकी थी। जगह-जगह ट्युबेल की बोरिंग हो रही थी। इस घटना के बाद पुलिस आई कुएं का मुआइना किया गया। लोगों से पूछताछ की गई। पुलिस ने गांव वालों को ताकीद की कि अगर इस तरह की कोई घटना हुई तो उसकी जिम्मेदारी गांववालों की होगी। जब भी गांव जाता हूं कुएं के अंदर अपने बीते हुए समय को चेहरा देखता हूं और उन दिनों को याद करता हूं जिसने मुझे मनुष्य बनाया है। जीवन की इस पाठशाला के बहुत पाठ याद हैं। उन लोगों का चेहरा मेरे चेहरे में शामिल है। यही मेरा हासिल है।

❐❐

अलीशिर नवाई का देश और मोनालिसा का नशा

संतोष श्रीवास्तव

ताशकंद अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डा... कैसे उच्चारण करूं इसका नाम XALQARO QSAT NOVALARING KELISHI... बहरहाल लगेज लोकर हम सभी 127 लोग सामने सड़क पर खड़ी तीन बसों में समा गए। सभी बसें, एयरकंडीशंड...आरामदायक। हमारे गाइड रुस्तम ने हिंदी में हमारा स्वागत किया...मुझे तो वह बॉलीवुड के हीरो जैसा ही लग रहा था। उसकी हिंदी भी ऐसी जैसे वह उजबेकी नहीं बल्कि भारतीय ही हो। बस होटल द पार्क तुरॉन की ओर चलने लगी जहां हमें छह दिन तक रुकना था। पूरी रात दिल्ली के इंदिरा गांधी अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे पर जागते गुजरी थी क्योंकि हमारी फ्लाइट उजबेकिस्तान एयरवेज थी और तीन बजे सुबह की थी इसलिए आंखें नींद से बोझिल होने के बावजूद मैं इतना तो समझ ही रही थी कि ताशकंद का मौसम खुशनुमा है। 22 डिग्री तापमान में सुबह की धुंध पेड़ों पर ठिठकी थी। सुबह के 8.30 बजे हैं जबकि मेरी घड़ी में नौ बजे थे। आधे घंटे भारत का समय आगे है यहां से। हरी भरी, रंग बिरंगे फूलों की क्यारियों वाले डिवाइडर के आजू बाजू सर्पीली सड़क से गुजरते हुए मैं दिल्ली को झुलझा देने वाला 46 डिग्री तापमान भूल चुकी थी।

होटल ग्यारह मंजिला...बेहद शानदार था। लंबा चौड़ा रिसेप्शन... खूबसूरत उजबेकी लड़कियां लड़के रिसेप्शन में थे। कुछ सीढ़ियां चढ़कर सामने बड़ा सा डाइनिंग हॉल था जहां हमारा ब्रेकफास्ट तैयार था। मुझे भूख नहीं थी क्योंकि फ्लाइट में हमें नाश्ता सर्व किया गया था इसलिए मैं छठवें फ्लोर पर स्थित कमरे में अपनी रूम पार्टनर जलगांव से आई कवयित्री प्रियंका सोनी के साथ आई और पलंग पर लेटते ही नींद के आगोश में चली गई। साढ़े बारह बजे हमें लंच और सिटी टूर के लिए रिसेप्शन में इकट्ठा होना था। नहा धोकर तरोताजा हो हम नीचे उतरे और भारतीय रेस्तरां में लंच के लिए गए। रेस्तरां दो मंजिला था। नीचे खुले-में छोटे-छोटे गोल टेबिल के इर्द गिर्द कुर्सियों पर बैठे विदेशी टूरिस्ट खाना खा रहे थे। बीच में खूबसूरत फव्वारा चल रहा था। रात होते-होते फव्वारा इंद्रधनुषी रंगों से नहा उठता है। हम सब ऊपर की मंजिल में भोजन के लिए गए। हमारे दल में एकांत श्रीवास्तव, बुद्धिनाथ मिश्र, धनंजय सिंह, देवमणि पांडेय, सुधीर शर्मा, जयप्रकाश मानस, दिवाकर भट्ट, शंभु बादल और हरिसुमन बिष्ट जैसे साहित्यकार शामिल थे। कुछ चेहरे अपरिचित थे जो भारत के विभिन्न प्रांतों, शहरों से आए थे। मॉरीशस से रेशमी रामधुनी आई थीं। शाकाहारी भोजन था...गाना बज रहा था...बोले चूड़ियां, बोले

कंगना...पूरा माहौल हिंदीमय था। होटल की बालकनी की दीवारों पर उजबेकिस्तान का ग्रामीण परिवेश बड़ी-बड़ी पेंटिंग्स में चित्रित था। सामने ओक और चिनार का घना जंगल... हवा शीतल. ..मानो कानों को गुदगुदाकर पूछ रही हो 'कैसा लग रहा है यहां?'

हमारी बसें सबसे पहले लाल बहादुर शास्त्री स्ट्रीट स्थित शास्त्री मान्यूमेंट की ओर रवाना हुईं जहां उनकी तांबे की प्रतिमा और स्मारक पर लगे ताम्रपत्र में उनके ताशकंद आगमन, निधन का ब्यौरा था। ताशकंद की धरती पर यह हमारा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कदम था, जब हम अपने प्रिय प्रधानमंत्री को अश्रुपूरित श्रद्धांजलि दे रहे थे। 10 जनवरी 1966 को भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब खान के बीच ताशकंद समझौता हुआ था। रुस्तम ने बताया कि ताशकंद के लिए वह बड़ा मुश्किल भरा समय था, जब उस पर शास्त्री की हत्या की साजिश का इल्जाम था। शहर की मुख्य सड़क पर उनकी प्रतिमा स्थापित कर ताशकंद ने उनकी शहादत को जिंदा रखा है। जहां हर पर्यटक आकर उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि देता है। मेरे लिए वह बड़ा भावुक पल था हालांकि शास्त्रीजी का निधन आज से 47 वर्ष पूर्व हुआ था, तब मैं पांच वर्ष की थी और मैंने कल्पना भी नहीं की थीं कि एक दिन मैं उनके परिवार की बहू बनूंगी। वे मेरे मामा ससुर थे। हमें ताशकंद पैलेस होटल भी दिखाया गया, जहां उनकी मृत्यु हुई थी, वह पलंग मैं देखना चाहती थी जहां उन्होंने अंतिम सांस ली पर ये संभव न था।

सब भारी मन से बसों में बैठे। थोड़ी ही देर में चिनार के कतारबद्ध दरख्तों वाली खूबसूरत सड़क ने जैसे दुखते मन पर फाहा रख दिया। सड़कों पर सफेद गाड़ियां जो टैक्सी थीं...हॉर्न की कहीं आवाज तक नहीं...शहर में ज्यादा से ज्यादा पंद्रह मंजिली इमारतें हैं...सरकारी इमारतें..मेयर का शानदार बंगला, ऑफिस, पुलिस डिपार्टमेंट जिसमें कैमरे लगे थे जो पूरे शहर पर निगरानी रखते हैं। हाईकोर्ट, स्कूल, कॉलेज, टी.वी. टॉवर... हम शहीद पार्क की ओर बढ़ रहे थे। रुस्तम धाराप्रवाह बोल रहा था...बता रहा था अपने देश उजबेकिस्तान के बारे में कि उजबेकिस्तान की जनसंख्या 30 मिलियन है और ताशकंद की 2.2 मिलियन। पहले सोवियत संघ विश्व पटल पर एक विशाल देश के रूप में जाना जाता था। सोवियत संघ का विघटन वर्ष 1991 में गोर्बाचोव के शासन के दौरान हुआ और वह 12 देशों में विभजित हो गया। उजबेकिस्तान, रूस, कजाकिस्तान, किंगिस्तान, ताजिकिस्तान, तुर्कमे निस्तान, उक्रेन, आदि। उजबेकिस्तान में पांच रिपब्लिक हैं...कजाकि, तुरकि आदि। उजबेकिस्तान के चार प्रमुख शहर हैं ताशकंद, समरकंद, बुखारू, खीरा।

21 वर्षो से यह आजाद देश है और सबसे बड़ी बात ये है कि एक ही राष्ट्रपति 21 साल से अपने पद पर कार्यरत हैं। यहां के प्रधानमंत्री शौकत मिरजिया हैं। इस्लामिक देश होने के बावजूद यहां पर्दा प्रथा नहीं है। उजबेकी महिलाएं सिर पर स्कार्फ बांधती हैं और उनकी मुख्य पोशाक रेशम से बनी होती है, जिसे अदरस और अतलस कहते हैं। यह गले से पैर तक एक ही लंबी पोशाक होती है। शहतूत के वृक्ष बहुतायत से होने के कारण यहां रेशम बहुत अधिक मात्रा में होता है, जिसे निर्यात भी किया जाता है। यहां का कानून बहुत सख्त है। इस्लाम धर्म में चार शादियों का प्रावधान तो है पर ऐश के लिए नहीं। सौ प्रतिशत प्रेम विवाह होते हैं। अगर पहली पत्नी औलाद पैदा करने के योग्य नहीं है तो कानूनी सहमति के बिना न तो दूसरा विवाह

हो सकता है न तलाक। उजबेकिस्तान ने मात्र 21 वर्ष में भ्रष्टाचार और अपराध से पूरी तरह मुक्ति पा ली है।

शहीद पार्क यानी इंडिपेंडेंस स्क्वायर आ गया था। रुस्तम ने आधे घंटे बाद बस में लौट आने के लिए कहा । बड़े से गेट से हम अंदर गए। शहीद पार्क...देश की आजादी के लिए शहीद हुए शहीदों की स्मृति में बनवाया गया है। दो बड़े ब्राउन कलर के चबूतरों पर काले अक्षरों में शहीदों के नाम, तारीख आदि लैटिन लिपि में लिखे थे। सामने चीड़ और देवदार के घने दरख्त और लचीली घास का लंबा विस्तार था। घास के बीच में पक्की गलियां बनी थीं। रमेश खत्री ने घास पर बैठाकर मेरी तस्वीर खींची तभी एक उजबेकी कर्मचारी दौड़ता हुआ हमारे पास आया 'प्लीज, घास पर मत चलिए, बैठिए भी नहीं। चलने के लिए रास्ते उपयोग में लाएं।'

हम इतने संकोच से भर उठे थे कि सामने के लंबे गलियारे में प्रवेश की हमने अनुमति ली जबकि वहां पर्यटक जा सकते थे। गलियारा लंबा था, जिसकी दीवार पर बने बड़े-बड़े आलों में ताम्रपत्र किताब के पन्नों की तरह लगे थे जिसमें आजादी पाने और शहीदों का विस्तार से वर्णन था। उन ताम्र पन्नों को पुस्तक की तरह पलटा भी जा सकता है। एक आले में कई-कई पन्ने थे। सामने नीले रंग की गुंबद वाली इमारत थी। विस्तृत भूभाग में फैला था यह इंडिपेंडेंस स्क्वायर। सामने की ओर विशाल खंभे पर जहां पहले लेनिन की मूर्ति थी अब उजबेकिस्तान का ग्लोब था। पीले रंग के खंभे पर चमकते-सोने जैसा सुनहला ग्लोब और खंभे पर उकेरी मानव मूर्त्ति...अपनी आजादी का जश्न मनाती सी।

हम जब फुटपाथ पर चहलकदमी कर रहे थे तो कॉलेज के विद्यार्थियों का एक झुंड हमें देखकर रुका। सब गोरे-चिट्टे...बला के खूबसूरत, नाजुक और शालीन। उन्होंने हाथ जोड़कर हमें 'नमस्ते' कहा। बदले में जब मैंने माथे तक ले जाकर 'वालेकुम सलाम' कहा तो उन्होंने अपने-अपने मोबाइल से मेरी तस्वीरें खींची, कुछ ने संग खड़े होकर भी खिंचवाई।

बस हमें लेकर 'मान्यूमेंट ऑफ करेज के जिस लंबे चौड़े मैदान में लाई वहां भागती हुई मुद्रा में एक स्त्री पुरुष की स्लेटी पत्थर की विशाल मूर्ति थी जो एक विशाल चट्टान पर स्थित थी। 26 अप्रैल 1966 में एक शक्तिशाली भूकंप आया था, जिसने पूरे ताशकंद को तहस-नहस कर डाला था। 30 लाख लोग इस भूकंप में मारे गए थे। यह विशाल मूर्ति उस समय को ताशकंद वासियों की स्मृति में हमेशा ताजा रखती है। इसी तरह मान्यूमेंट ऑफ करेज में एक औरत की विशाल भव्य मूर्त्ति है। लंबे चौड़े स्क्वायर में बीचोंबीच हवन कुंड जैसी आकृति में अग्नि प्रज्जवलित की गई है। लपटें हमेशा निकलती रहती हैं...मानो इस झुलसा देने वाली पीड़ा में अपनी सांसें पूरी करती मां अपने मृत बेटे की प्रतीक्षा में है कि वह एक न एक दिन अवश्य आएगा। सब कुछ प्रतीकात्मक था लेकिन फिर भी मन भारी हो उठा। इंसान किसी भी जगह हो भावनाशून्य तो कभी हो ही नहीं सकता। भले ही विनाश के बाद सृजन की प्रक्रिया है और इसी क्रम में शहर का पुनर्निर्माण किया गया। 1970 तक लगभग एक लाख नए घर बनकर तैयार हो गए जिनमें से ज्यादातर घरों में बिल्डरों के परिवार रहते हैं। लेकिन विनाश तो विनाश ही है। भारी मन लिए हम लौट कहां रहे थे, जा रहे थे...ताशकंद शहर के बीचों बीच बने शहीद स्मारक में जो उन चौदह हजार बुद्धिजीवियों, विचारकों, लेखकों और कलाकारों की याद में बना

है जिन्हें उजबेकिस्तान को सोवियत रिपब्लिक का हिस्सा बनाने के जुर्म में एक साथ यहां लाकर कत्ल किया गया और फिर दफना दिया गया था...शहीद स्मारक का ये खूबसूरत समाधि स्थल मानो आज भी उस खूनी दिन को याद कर सिहर उठता है। तभी तो सिहर रहे थे दिल के आकार की बनी क्यारियों में खिले रंगबिरंगे फूल...सिहर रहा था सामने बने पुल के नीचे बहते बांध का पानी जो कल हुई बारिश से मटमैला नजर आ रहा था। मैं भी सिहरती हुई सामने हरे रंग की गुंबद वाली मस्जिद की सीढ़ियों से लगी घास की ढलान पर सरपट उतर गई थी। वहीं मिलीं कुछ उजबेकी महिलाएं। उन्होंने मुझे घेर कर एक साथ कहा-''तूरिस्त...तूरिस्त...फोतो...फोतो रमेश खत्री को मैंने कैमरा थमाया तो बोले 'आप भी अपने दुपट्टे से इन महिलाओं जैसा स्कार्फ बांधिए।'

महिलाओं ने मेरे सिर पर स्कार्फ बांध मुझे अपनी जमात में शामिल कर लिया और वह पल मेरे कैमरे और उन महिलाओं के कैमरों में कैद हो गया। सूरज ढलने का नाम ही नहीं ले रहा था। रुस्तम ने बताया यहां 8.30 बजे सूर्यास्त होता है और सूर्योदय चार बजे सुबह...यानी डिनर अच्छी खासी चमकती धूप के रहते लेना था। हम कल की बनिस्बत छोटे रेस्तरां में डिनर के लिए आए। भूख जोरों की लगी थी। हमारी मेजों पर सलाद और फल केले, सेब, आड़ू, खूबानी, चैरी आदि रखे थे, जिन पर हम टूट पड़े। यहां का तरबूज खूब लाल, रसीला और मीठा होता है। पेट तो फलों से ही भर गया था। सबका साथ देने को मैं डिनर टूंगती रही।

लौटते हुए मैं सुधीर शर्मा वाली बस में थी। जिसकी गाइड जरीना थी। बेहद खूबसूरत पच्चीस तीस साल की लड़की। जब हम अपने होटल के लाउंज में थे मैंने उससे पूछा-'पढ़ती हो जरीना?'

''नहीं मैम, पढ़ाई तो कब की, कंप्लीट कर ली। अभी यहीं ट्रेव्हल एजेंसी में जॉब पर हूं।''

''और शादी?'' मैंने उसे छेड़ा।

वह उदास हों गई...''लव मैरिज थी मेरी, हस्बैंड छह महीने पहले एक्स्पार्यड हो गया। बेटा है पांच साल का और मदर इन लॉ। हम तीनों साथ में रहते हैं। उन्हें भी मुझे ही संभालना पड़ता है। वो ओनली सन था न उनका।''

ओह...इस दर्द से मैं वाकिफ हूं। मेरा हेमंत भी ओनली सन था मेरा...मैं भी अकेली।

मैंने जरीना को गले से लगा लिया...उसने सुधीर शर्मा से कहा ''आपकी वाइफ, बहुत ब्यूटीफुल और लवली हैं।''

मैं कहना चाहती थी कि मैं इनकी वाइफ नहीं दोस्त हूं कि सुधीर शर्मा ने होठों पर उंगली रख चुप रहने का इशारा किया। बाद में हम देर तक हंसते रहे। जरीना की हंसी लाउंज में खिली धूप सी बिखर गई।

26 जून का दिन पांचवें अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन की साहित्यिक गतिविधियों का दिन था। सुबह दस बजे आरंभ हुए उद्घाटन सत्र में अध्यक्ष वरिष्ठ कवि बुद्धिनाथ मिश्र थे। मुख्य अतिथि मॉरीशस में महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट भारतीय अध्ययन शाला की प्रमुख डॉ. रेशमी रामधुनी थीं। विशिष्ट अतिथि हिंदी अकादमी दिल्ली के सचिव हरिसुमन बिष्ट, शंभु बादल, पीयूष गुलेरी, धनंजय सिंह और एकांत श्रीवास्तव थे। सबसे पहले प्रतिभागियों का परिचय उन्हीं की जबानी

दिया गया। उसके पश्चात् कथा लेखन एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने हेतु मुझे अंतरराष्ट्रीय सृजनगाथा सम्मान 2012 प्रदान किया गया। पुष्पगुच्छ, स्मृति चिहन एवं प्रमाणपत्र देकर मेरा साहित्यिक परिचय जयप्रकाश मानस ने दिया। विदेशी धरती पर यात्रा प्रभारी विकी मल्होत्रा ने मुझे हिंदुस्तान की बेटी और साहित्य जगत की शान कहकर मेरा जो मान बढ़ाया वो मेरी यादों में बस गया।

लंच के बाद हम फिर ग्यारहवें फ्लोर पर स्थित हॉल में गए। विमोचन सत्र आरंभ हुआ। भारत के विभिन्न प्रदेशों से आए लेखकों की 28 कृतियों का विमोचन हुआ। मुंबई की सुमन सारस्वत एवं देवमणि पांडे की पुस्तकों के विमोचन के साथ ही आयोजकों द्वारा अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन के अंतरराष्ट्रीय आयोजन के निरंतर संचालन, समन्वय और लोकव्यापीकरण के लिए अंतररष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन के गठन का प्रस्ताव रखा। सभा ने अपनी सहमति प्रगट की। बुद्धिनाथ मिश्र सर्वसम्मति से अध्यक्ष एवं जयप्रकाश मानस समन्वयक के रूप में मनोनीत किए गए। भारत के प्रत्येक प्रदेश से एक-एक उपाध्यक्ष चुना गया। महाराष्ट्र प्रदेश के उपाध्यक्ष पद के लिए मुझे चुना गया। प्रतिभागियों को प्रमाणपत्र देने के पश्चात् रात्रि 9.30 पर सत्र की समाप्ति हुई। विकी बार-बार आकर चेता रहे थे कि जल्दी करिए वरना रेस्टोरेंट बंद हो जाएंगे। चूंकि आज का दिन सम्मान समारोह के कारण विशेष था अतः भारतीय रेस्तरां 'रघु' में भव्य रात्रि भोज का प्रबंध था। रेस्तरां मद्धिम रोशनी और लाल कार्पेट के कारण तिलस्मी माहौल से युक्त था। उजबेकी नर्तकियां हिंदी फिल्मों पर नृत्य कर रही थीं और डिनर के साथ ही शामिल बार में शैंपेन, वोद्का, जिन मेहमानों को परोसी जा रही थी। थोड़ी देर बाद सभी मूड में आ गए। जिन्हें थिरकना था थिरके। मैंने भी जमकर नृत्य किया। जिसकी सभी ने सराहना की। एक प्रोफेशनल नृत्यांगना ने तो मेरे पास आकर यहां तक कहा कि ''यू आर अ वेरी गुड डांसर।'' एक खुला और आत्मीय माहौल था वहां। वे पल अद्भुत थे, जिन्हें कुछ ने अपने कैमरों मैं कैद कर लिया था।

बस में सब तरोताजा दिख रहे थे...रुस्तम ने गुडमॉर्निंग, नमस्ते और सलाम वालेकुम के अभिनंदन के साथ दिन की शुरुआत करते हुए बताया कि आज हम ताशकंद शहर से 120 कि. मी दूर चिमगन पर्वत पर जाएंगे, जो टिआनशान पर्वत माला से घिरा हुआ है और बर्फीली चोटियों की वजह से बहुत खूबसूरत दिखता है। नवंबर से मार्च के बीच यहां एक से डेढ़ मीटर तक बर्फ गिर जाती है। हमें तो दूर पर्वतों पर भी बर्फ दिखनी शुरू हो गई थी। ताशकंद शहर पीछे छूटता जा रहा था और गांव एक के बाद एक गुजर रहे थे। रंगबिरंगे फूलों और पकी-पकी लाल-लाल चैरी के गुच्छों से लदे पेड़ बड़े सुहावने, लुभावने लग रहे थे। हरे कच्चे फल वाले अखरोट के पेड़, चिनार जिसके पत्ते तांबई और हरे थे, अंगूर के मंडप, आड़ू सेब...खुलकर प्राकृतिक संपदा बिखरी थी। वैली में भी गांव रंगबिरंगे घरों वाले थे। तीन हजार वर्ष पुराना होने के बावजूद लगता था जैसे ताशकंद अभी-अभी नया बसा हो। उस जमाने में इन गांवों के मुहल्लों में मदरसे, चायखाने और पानी की हौज हुआ करती थी। हौज का पानी पीने के काम आता था। दुकानों पर नोवोय यानी नान, कुर्त यानी चीज और नोस्वॉय यानी तंबाखू-चूना मिलता था जो आम उपयोग की चीजें थीं। अब तो ये चीजें गायब ही थी बल्कि गांवों की दुकानें आधुनिक वस्तुओं से सजी-धजी नजर आ रही थीं। आसपास के पहाड़ इतने अद्भुत तरीके से कटावदार

थे कि मैंने ऐसे पहाड़ पहले कभी देखे नहीं थे। जैसे मोटी-मोटी पथरीली परतों को पहाड़ की शक्ल में ढाल दिया गया हो। सिलेटी पर्वतों पर बादलों की काली छाया उन्हें और भी काला बना रही थी। बायीं तरफ स्कूल था जिसके तुरंत बाद एक तिकोनी झील थी। जिसकी सतह पर बादलों और पेड़ों का प्रतिबिंब झिलमिला रहा था। झील से लगे घास के मैदान में कुछ नवयुवक-नवयुवतियां फुटबॉल खेल रहे थे। रुस्तम ने बताया...यहां का राष्ट्रीय खेल फुटबॉल है। अब चूंकि रास्ता लंबा था इसलिए बस में बैठे साहित्यकारों ने अपनी जिज्ञासाएं रुस्तम से पूछना आरंभ कर दीं। रुस्तम काफी जानकारी रखता था...यानी आम गाइड से अधिक...सबसे पहली जिज्ञासा शराब को लेकर...

''यहां वाइन बहुत पॉपुलर है। सबसे ज्यादा मोनालिसा नाम की वाइन पसंद की जाती है।''

''क्राइम?''

''नाम को नहीं। उजबेकिस्तान ने अब तक करप्शन और क्राइम पर पूर्णतया विजय पा ली है। चोरी डकैती, लूट...बिल्कुल नहीं। आपसी दुश्मनी में एकाध घटना कहीं घटित हो जाए. .. बस उतना ही। सुन्नी बहुल बल्कि केवल सुन्नी ही हैं यहां। शिया बस एक प्रतिशत हैं। यहां दो औरत के पीछे एक मर्द का आंकड़ा है। यानी औरतें अधिक हैं। सभी पढ़ी लिखी, आधुनिक संस्कृति से लैस। यहां स्कूल से लेकर कॉलेज तक पढ़ाई मुफ्त है। सरकार मजबूर करती है कि पढ़ो...न पढ़ने की कोई वजह ही नहीं। नवमी तक स्कूल की पढ़ाई और फिर तीन साल तक कॉलेज। उसके बाद की डिग्रियां अपने खर्च से लेनी पड़ती हैं। छुट्टियां भी अधिक नहीं दी जातीं। सरकार कहती है-''काम करो, देश को मजबूत बनाओ।'' यहां 21 मार्च नववर्ष, 4 सितंबर स्वतंत्रता दिवस, 8 मार्च महिला दिवस, 9 मई विजय दिवस, (जर्मनी से रूस ने विजय पाई थी) 8 दिसंबर संविधान दिवस के रूप में मनाया जाता है। फिर बकरीद, मीठी ईद तो होती है। ईद में तीन दिन की छुट्टी होती है।

सामने पार्केंट सब्जी मार्केट था जहां लैटिन लिपि में लिखा था 'पार्केंट मार्केट'...एक उजबेकी साईकल के कैरिअर पर अखबार लादे पैदल चल रहा था। यहां तुर्किस्तान, उजबेकिस्तान, आवाज ताशकंद हकीकत आदि अखबार उजबेकी भाषा के तथा इंग्लिश का उजबेक रशन अखबार काफी बड़ी मात्रा में सर्कुलेट होता है। हिंदी के अखबार की रुस्तम को जानकारी नहीं थी। साहित्य की थोड़ी बहुत थी तो बताया कि 'यहां के सबसे लोकप्रिय कवि हैं 'अलीशिर नवाई' उन्होंने शीरी फरहाद लैला मजनूं काव्य रूप में लिखा है। मध्य एशिया के सबसे बड़े मध्यकालीन कवि नवाई का जन्म 1441 में हुआ था। वे तुर्की मूल के थे और एक साथ ही राजनेता, दार्शनिक, भाषाविद्, चित्रकार और कवि थे। वे चुगताई भाषा-साहित्य के महानतम स्तंभ थे। उनके नाम पर नवाई प्रदेश, नवाई शहर, नवाई हवाई अड्डा, बैले थियेटर और ओपेरा हैं। उनकी गजलें मुशायरों की शान हैं और उनकी रचनाओं का मंचन रंगकर्मियों का प्रिय विषय रहा है। आपके होटल के पास ही उनकी स्मारक है जहां उनकी आदमकद मूर्त्ति है।'

कोलकाता प्रभात वार्ता के कार्यकारी संपादक निर्भय देवांश ने मुझे जर्मन कवि बर्तोल्त ब्रेख्त के नाटक और कविता की किताब लाने कहा था। पूछने पर रुस्तम ने कहा-''नो आइडिया.

..शॉपिंग के दौरान आप बुक स्टॉल पर पता कर लेना।''

हिंदी उर्दू भी पढ़ाई जाती है। हिंदी स्कूल लेखन पर मान्य है। एक उर्दू हिंदी की यूनिवर्सिटी भी है।''

बाल्देरसाई रिसॉर्ट आ गया था जहां से हमें केबिल कार लेकर चिग्मन पर्वत पर जाना था। केबिल कार तो उसे कह ही नहीं सकते, वो तो दो कुर्सियों वाला एक झूला था जिस पर दौड़ते हुए चढ़ना था और दौड़ते हुए उतरना था। मेरे साथ आशा पांडे बैठीं। कैमरे हमने हाथ में ले लिए। झूला वेली से गुजरना था। नीचे देखने की सख्त मनाही थी...चक्कर आ सकता है पर हमने कब हिदायतों की परवाह की है। वैली में पीले फूल खिले थे। कहीं-कहीं पथरीली टेकरियां, कहीं झिलमिलाता पानी तो कहीं रूई की पोटलियों जैसी दिखती भेड़ों के झुंड...पर्वत पर पहुंचे तो आसपास का कुदरती सौंदर्य देखकर मुंह से वाह...वाह निकल गया। सामने तार पर चिंदियां बंधी थीं... मन्नत की चिंदियां पर वहां न दरगाह थी न मस्जिद फिर मन्नत किस बात की? थोड़ी देर में बारिश शुरू हो गई। एक टीन के शेड में कहां इतने लोग समाने थे। मैं छाता ले गई थी। मेरे छाते में एकांत श्रीवास्तव, रमेश खत्री, देवमणि पांड़े..जो भी आता छाता अपनी ओर झुका लेता। थोड़ी देर में बारिश बंद हो गई। इस बार झूले से उतरते हुए हम गाने लगे..'चली चली रे पतंग मेरी चली रे।'

नीचे आने पर कुछ घोड़े वाले और बाइक वाले नजदीक आए...मैडम हॉर्स राइडिंग? बाइकिंग?''

बादल घिरे थे, हवा ठंडी...हमने जैकेट, स्वेटर आदि पहन लिए। चार वाक रिसॉर्ट पहुंचकर पहले होटल 'पिरामिड' में लांच लिया। बिल्कुल पिरामिड की शक्ल का हरा सफेद होटल...बेहद खूबसूरत। एक नहीं बल्कि चार पांच होटलों का समूह। लंच के बाद बांध देखने गए। बस से बांध नीला और सिलेटी दिखा था लेकिन पास जाने पर अद्‌भुत...यह बांध चिरचिक दरिया पर 170 मीटर ऊंचा है, जिसका निर्माण कार्य 1977 से 1985 तक चला। दरिया का रूख 'सिर' नामक दरिया की ओर जाता है। उज्बेकिस्तान में इस तरह के 8 बांध हैं, जिनसे बिजली पैदा की जाती है। सामने पहाड़ की तलहटी में चार वाक झील सतरंगी नजर आ रही थी। हरा नीला रंग उभरकर दिखाई दे रहा था। झील के किनारे रेतीले होने की वजह से इसे 'चार वाक सी' भी कहा जाता है। सीढ़ियां होटल के बाजू से झील तक जाती हैं जिनके दोनों बाजुओं पर रंग बिरंगे फूलों और ऊंचे-ऊंचे घने दरख्तों, लताओं वाले उद्यान हैं। कुछ लोग तैराकी कर रहे थे। यहां स्पीड बोट, बॉलिंग, शूटिंग, पेंट बॉल, सौना आदि का आनंद भी उठाया जा सकता है।

लौटते हुए दिन दल ढल रहा था। ढलती सुनहली धूप में घास की ढलान पर कुछ कजाकी एक बाड़े में घोड़ों के बांध रहे थे।

''कजाकी और किरकिज लोग घोड़ी का दूध पीते हैं, घोड़ी के दूध में नशा होता हे।''

रुस्तम ने बताया-''वैसे उजबेकिस्तान में गाय का दूध ही होता है। भैंस यहां नहीं होतीं।''

हम भी थकान के नशे में थे इसलिए समय गुजारने को अपने-अपने प्रदेश के लोकगीत गाते रहे। ताशकंद आते ही डिनर फिर होटल वापसी। वापसी के दौरान बस में चर्चा छिड़ी कि पहले उजबेक भाषा का नाम 'चगताई' था जो चँगेज खान के बेटे के नाम पर था। मुझे इस्मत

आया (चुगताई) याद आई। क्या पता उनका संबंध उसी वंश से हो।

रात में ही तय हो गया था कि आज सुबह 7 बजे हम होटल के ही स्विमिंग पूल में स्विमिंग के लिए जाएंगे प्रमिला शर्मा, सुमन सारस्वत और सुषमा शुक्ला जो वाराणसी से आई थीं के साथ। इंटरकॉम पे प्रमिला ने नीचे आने को कहा। स्विमिंग पूल में जाने से पहले हमें मोजड़ी टाइप प्लास्टिक के कव्हर से पैरों को ढंक लेना था। प्रमिला अच्छी तैराक है। नाश्ते के बाद कथा सत्र आरंभ हुआ, जिसका संचालन इन पंक्तियों की लेखिका ने किया। लंच का समय हो गया था लेकिन कथाओं के जादू ने लोगों को भूख का एहसास नहीं होने दिया। फिर भी रेस्तरां की समय सीमा भी ध्यान में रखनी थी लिहाजा कथाएं जल्दी-जल्दी पढ़ी गईं और हम ब्रहना रेस्टॉरेंट में लंच के लिए गए। लंच के बाद मेगा प्लेनेट लोकल मार्केट में हमें शॉपिंग के लिए जाना था लेकिन उसके पहले हजरत इमाम परिसर देखना था। रुस्तम ने बताया कि उज्बेकिस्तान के लोग ताशकंद को स्थानीय भाषा में तोशकेंट कहते हैं। बस में बैठे लोग दोहराने लगे तोशकेंट...तोशकेंट...हजरत इमाम परिसर बहुत अधिक विशाल, भव्य, ऊंची-ऊंची कार्विग की गई मीनारों और विशाल दरवाजों वाला था। जूते बाहर उतारने पड़े क्योंकि अंदर इस्लाम धर्म की कुरान शरीफ रखी थी। सातवीं शताब्दी में खलीफा ओथमन के द्वारा लिखी कुरान शरीफ की मुख्य पांडुलिपि संगमरमर के चबूतरे पर लकड़ी की चौरासा पर खुली रखी थी। यह पांडुलिपि ओथमन ने हिरन की खाल पर लिखी थी। अंदर के कमरों में अलग-अलग समय की और भिन्न-भिन्न आकार प्रकार की कुरान की कई प्रतियां रखी थीं। वहीं 19 वीं सदी का अब्दुल काजिम का मदरसा भी दर्शनीय है। जहां इस्लाम और शरीयत की शिक्षा लेने कजाक, किरगिज, तातार तथा अन्य सीमावर्ती देशों के बच्चे पढ़ने आते थे।

शॉपिंग में मेरी जरा भी रुचि नहीं थी। मुझे भारतीय दूतावास जाकर आधिकारियों से मिलना था। जब भी कोई विदेशी भारतीय दूतावास जाता है तो वहां के मुख्य रजिस्टर में उसका नाम पता लिखकर फोटो चिपकाई जाती है। वहां के कल्चरल विभाग में कत्थक नृत्य सिखाया जाता है। दिल्ली की कत्थक नृत्यांगना समीक्षा कत्थक सिखाती हैं। उनके पचास विद्यार्थी हैं। दो सौ हिंदी के विद्यार्थी हैं जिन्हें भारतीय दूतावास प्रशिक्षित करता है। शास्त्री स्कूल में हिंदी पढ़ाई जाती है।

मॉल में घूमते हुए मैंने ताशकंद, समरकंद के दर्शनीय स्थलों की एक सी.डी. खरीदी और यूं ही दुकानों में सामान देखते रहे। कुछ भी ऐसा नहीं दिखा, जिसे खरीदा जाए। सब कुछ तो मुंबई में मिलता है। रुस्तम हांफ डे करके घर चला गया था। अब हमारी बस का गाइड मिर्जा था। उसको दिए तयशुदा समय में हम मॉल से बाहर निकले तो न बस दिखाई दी न हमारे अन्य साथी। अब क्या हो? मोबाइल फोन काम नहीं कर रहे थे और होटल का पूरा पता भी पास में नहीं था। टैक्सी वाले होटल तक जाने का 5000 सूम मांग रहे थे। असल में एक अंग्रेजी जानकार उज्बेकी ने हमारी मदद की थी और होटल का नाम बताने पर उसने पूरा पता भी हमें बता दिया...उसी ने फिर चार हजार सूम में हमारे लिए टैक्सी तय करा दी थी। होटल लौटे तो पता चला ग्यारहवें फ्लोर पर कवि सम्मेलन हो रहा है। बड़ी कोफ्त हुई कि हमने उसे मिस किया। विकी का आग्रह था कि डिनर के लिए आधे घंटे में तैयार हो जाओ और आज फिर

विशेष रेस्टोरेंट में रशियन डांस शो आदि के साथ डिनर का आयोजन किया गया है।

रात पूरे शबाब पर थी। ताशकंद की सड़कों पर कुछ उजबेकी जोड़े चहलकदमी कर रहे थे। डिनर के बाद हम बस के इंतजार में होटल की सीढ़ियों पर बैठे थे। अमूमन रातें ठंडी होती हैं यहां। एक उजबेकी महिला गले की माला, ब्रेस्लेट आदि बेच रही थी। काले क्रिस्टल स्टोन की माला जिसमें सफेद लगमगाता लॉकेट था सुधीर ने खरीदकर मेरे गले में पहना दी। इस बात का सभी ने खूब मजा लिया और घंटों हम दोनों चर्चा का विषय रहे।

आज हमें उजबेकिस्तान के महत्वपूर्ण शहर समरकंद जाना है। समरकंद मेरे लिए इसलिए और अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि बाबर यहीं का था और मध्यकालीन इतिहास में एम.ए. करने के कारण बाबर के बारे मैंने विस्तार से पढ़ा था। समरकंद प्राचीन सभ्यता वाला शहर है। 'सिल्क रोड़' के रूप में इस शहर की खास पहचान है। सन 2001 में यूनेस्को ने इसे वर्ल्ड हेरिटेज की सूची में शामिल किया था। 14 वी सदी में समरकंद आमिर तैमूर की राजधानी हुआ करता था। यह 2750 साल पुराना शहर है। पहले इसका नाम अफ्रसियाव था। बाबर के पहले रहा होगा यह नाम क्योंकि बाबर के साथ तो समरकंद ही जुड़ा है। ताशकंद से समरकंद तीन सौ कि. मी. दूर है और हमें वहां जाने के लिए 'रेगिस्तान' नामक ट्रेन लेनी थी। हम नाश्ते के फौरन बाद रेलवे स्टेशन आए। ट्रेन ने हमें 3.50 घंटे में बिना कहीं रुके समरकंद पहुंचा दिया। नॉनस्टॉप ट्रेन की बहुत फास्ट स्पीड थी।

स्टेशन के बाहर बसें हमारा इंतजार कर रही थीं। बेतहाशा गर्मी और तीखी तेज धूप में समरकंद का स्थापत्य झिलमिल जाल सा बुन रहा था। जैसे अरेबियन नाइट्स का लुक होता है कुछ वैसा ही...तीन मिलियन आबादी वाले इस शहर में ईरानी भाषा भी बोली जाती है। और भी भाषाएं होंगी क्योंकि यहां उस्मानी, तुर्की सभी आए...यानी कि मिली-जुली संस्कृति है यहां की। फुटबॉल स्टेडियम, कार फैक्ट्री आदि देखते हुए हम आमिर तैमूर के मकबरे की ओर बढ़ रहे थे। समरकंद ऐतिहासिक महत्व रखता है। यहां के रहन-सहन में स्थानीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आमिर तैमूर का मकबरा जो 650 साल पहले निर्मित हुआ था बहुत ही भव्य, विशाल है। यह काले, नीले और भूरे पत्थरों से बना है। इसके विशाल गेट पर नक्शा बना है जो विभिन्न कब्रों की जानकारी देता है। अंदर कब्रें हैं। काली कब्र तैमूर की...उससे ऊपर उसके गुरु की कब्र संगमरमर से बनी है। आजू बाजू पोतों की कब्रें हैं जिनकी मृत्यु तैमूर के जीवन-काल में ही हो गई थी। मकबरे की छत पर 14 किलो सोने से कार्विंग की गई है जो देखते ही बनती है। तैमूर की पांच बीवियां थीं जिसमें उसकी सबसे अधिक प्रिय बीवी...बीवी खानम थी जो चिंगिस्तान की थी। मैंने एक बात गौर की...यहां की औरतें ताशकंद की औरतों से अधिक खूबसूरत थीं। मकबरे में खड़ी एक खूबसूरत औरत ने मेरे साथ तस्वीर खिंचवाई। फिर हम रेजिस्टन स्क्वायर आए जहां 15 वीं से 17 वीं सदी के बीच बने तीन मदरसे हैं...काफी लम्बे चौड़े मैदान में ये मदरसे बने हैं।

लंच का समय हो चुका था। तभी रुस्तम ने घोषणा की कि आज आपका लंच 'बीवी मुबारो' के घर पर है...यानी पूरा शाकाहारी उज्बेकी खाना। बीवी मुबारो के घर जाते हुए हम, जिन गलियों से गुजर रहे थे उनके दोनों ओर मकान थे। मकानों के अहाते में फलों के बाग

थे। अखरोट, शहतूत, चैरी, आड़ू, सेब, नाशपाती के पेड़ फलों से लदे थे। पूरी गली अंगूर की लताओं के मंडप से आच्छादित थी। हरे-हरे कच्चे अंगूर के गुच्छे लगे थे। बीवी मुबारो के घर के गेट में प्रवेश करते ही हमने आड़ू तोड़कर खाए। घर बहुत सुंदर दोमंजिला था। चिड़ियों का खूब बड़ा पिंजड़ा था जिसमें रंग बिरंगी चिड़ियां फुदक रही थीं। मैं उनके साफ सुथरे किचन में आ गई। वहां जो औरतें खाना बना रही थीं उन्होंने मेरे साथ तस्वीरें खिंचवाई। अजब क्रेज है तस्वीरों का। हमें ऊपर की मंजिल की बाल्कनी में खाना परोसा गया। विशाल मेजों पर जैसे 56 भोग सजे थे। चावल और दाल का मिक्स्ड सूप मैंने पहली बार चखा था। रोटियां भी कई किस्म की...सब्जियां...जिनमें नाम मात्र को मिर्च मसाला था। छिलके सहित रोस्टेड नमकीन बादाम...सूखे मेवों की अद्भुत पेशकश...फलों से भरी डलियां...दालें, चटनियां, सलाद, मीठे पकवान की खुशबूदार तश्तरियां...लजीज...लाजवाब...यम्मी...चखते, चखते ही पेट भर गया। समय कम था। हमने बीबी मुबारो को शुक्रिया फिर मिलेंगे कहा और सीधे ड्राई फ्रूट्स मार्केट आ गए। धूप तीखी तेज थी। मेरे छाते को सब लालचाई नजरों से देख रहे थे कि काश उनके पास भी छाता होता। मार्केट से लगा हुआ बीबी खानम का मकबरा था।

इतना बड़ा सूखे मेवों का बाजार मैंने पहली बार देखा। समरकंद के सूखे मेवे विश्व प्रसिद्ध हैं। काला द्राक्ष, किशमिश, अखरोट, चिलगोजे, बादाम तो हमें मुट्टी भर-भर चखने को दिये जा रहे थे। विक्रेता औरतें खुश हो-होकर फोटो खिंचवा रही थीं। मैं तो मेवों से अधिक उन औरतों की खूबसूरती पर लट्टू थी। लगभग सभी के सामने के चार दांत सोने से मढ़े थे। पूछने पर पता चला कि यह भी औरतों के शृंगार का एक हिस्सा है। वे हमारे साथ आई औरतों की चूड़ियां छू-छू कर देख रही थीं। मेरे माथे की बिंदी उनके आकर्षण का केंद्र थी। मैंने अपनी बिंदी निकालकर उनके माथे पर लगा दी। उन्होंने अपना स्कार्फ मेरे सिर पर बांधकर फोटो खिंचवाई। एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ इस तरह हमारे दिलों का मिलना मीठा एहसास करा गया। तभी अखरोट खरीद चुकने के बाद जब मैंने मूल्य चुकाने को बैग में हाथ डाला तो पासपोर्ट और रुपए (जो कि सौ डॉलर देने पर ढाई लाख सोम मिले थे) वाला छोटा पर्स गायब था। मेरे तो होश उड़ गए। शायद बस में छूट गया हो यह सोचकर मैं बस की और भागी लेकिन बसेज बंद थीं और ड्राइवर का कहीं अता-पता न था। जंगल की आग की तरह मेरे सहयात्रियों तक पासपोर्ट गुमने की खबर फैल गई। मेरा उतरा हुआ चेहरा देखकर मीठेश निर्मोही ने कहा ''आपका पासपोर्ट मिल जाएगा। शायद आप कहीं रखकर भूल गई हैं।'' तभी ललित लालित्य बोले-''एक ग्लास शहतूत का जूस लें और तरोताजा हो जाएं। आप उदास अच्छी नहीं लगतीं। पासपोर्ट बस में या होटल में मिल जाएगा। हम आपके लिए दुआ करेंगे पर आपसे ट्रीट भी लेंगे।'' सहयात्रियों की सांत्वना ने मन को धीरज दिया। अखरोट तो क्या खरीदते। पांच हजार सोम की मैं उनकी कर्जदार हो गई। बस में लौटे पर सीट पर पासपोर्ट बैग नहीं था। बस में चर्चा का विषय मेरा पासपोर्ट ही था। किसी ने कहा-''आप तो गणपति का ध्यान कर एक नारियल की मन्नत बोल दो। पासपोर्ट मिल जाएगा आपको।''

इस वक्त मैं अपने संग हुए इस पासपोर्ट प्रसंग को भूल जाना चाहती थी। समरकंद आना दोबारा तो होगा नहीं इसलिए मैंने खुद पर काबू रखा। मैंने देखा सामने ऊंची पहाड़ी पर कुछ

कब्रें बनी थीं जो मुझे फिर से उदास करने लगीं। यहां अंतिम संस्कार के लिए सरकार से भूमि खरीदनी पड़ती है। पूरी पहाड़ी कब्रों से भरी थी। इंच-इंच भूमि का आवंटन जिंदगी की समाप्ति पर...उफ।'ग्रेट सिलक' रोड जापान, इंडोनेशिया और योरोप तक है। तैमूर जो बाबर का परदादा था इसी रोड से भारत गया था। वह ऊंट पर सवार होकर गया था। उजबेकिस्तान के लिए तैमूर फरिश्ता था पर मेरे देश के लिए तो वह लुटेरा ही था। मैं, देख रही थी ग्रेट सिल्क रोड को. ..जैसे तैमूर का ऊंटों का काफिला चला जा रहा हो जिन पर लदा है भारत का बेशकीमती खजाना...सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात, खूबसूरत, कमसिन लड़कियां जिनके भाई, पिता, पति को कत्लेआम में मौत के घाट उतार दिया गया था। तभी सामने चौराहे के बीचोंबीच तैमूर की बड़ी सी पत्थर से बनी मूर्त्ति दिखी, जिसे बस में बैठे ही हमने चारों ओर से देखा। भावनाओं की आंधी ने जैसे आंखों पर परदा सा डाल दिया। फिर और कुछ देखा न गया।

हम रेलवे स्टेशन की ओर बढ़ रहे थे। एक मस्जिद के सामने मुसलमानों का हुजूम नमाज के लिए खड़ा था। वे सफेद पायजामे, सिलेटी कुरते और सफेद जालीदार टोपी लगाए थे। सड़कों पर पीले रंग की टैक्सियां दौड़ रही थीं।

रेलवे स्टेशन से हमने वही नॉनस्टॉप ट्रेन ली और ताशकंद की ओर रवाना हो गए। अब सिर्फ कल का दिन शेष था और मुझे एंबेसी, कल्चरल विभाग और तैमूर म्यूजियम देखना था। कल रात को ही भारत वापसी थी। मैंने होटल पहुंचकर रिसेप्शन में पता किया। म्यूजियम तो कल खुला है लेकिन एंबेसी और कल्चरल विभाग शनिवार के कारण बंद रहेगा। कमरे में लौटी तो पासपोर्ट पलंग पर रखा मिला।

सुबह नाश्ते के बाद हम पांच मित्र टैक्सी लेकर म्यूजियम के लिए रवाना हुए। म्यूजियम के बाद हमें चियर्स पब में मिलना था जो इस देश में हमारा अंतिम सफर होगा। मैंने अपना सूटकेस रिसेप्शन में रखवा दिया। हरे गुंबद और सफेद स्थापत्य का आलीशान म्यूजियम बेमिसाल था। लम्बे चौड़े प्रांगण में दीवार से सटे फूलों के उद्यान और सामने एक बड़े से सफेद नीले रंग के बोर्ड पर आमीर तैमूर का आदमकद चित्र जिसमें अंग्रेजी और लैटिन भाषा में उसका नाम, जन्म, मृत्यु की तिथि आदि अंकित थी। प्रवेश टिकट एक हजार सोम और कैमरे के भी एक हजार सोम। हमने अपने-अपने कैमरे जमा कर दिए और तय हुआ कि आशा पांडे के कैमरे की ही टिकट ही लें क्योंकि वे अच्छी फोटोग्राफर हैं। जब हम टिकट ले चुके तो टिकट काउंटर पर बैठी महिला ने राजकपूर का स्केच दिखाया और कहा कि मैं उस पर अपने हस्ताक्षर करूं। सोवियत संघ के लोग राजकपूर और नर्गिस के दीवाने हैं और हिंदी फिल्मों का युवा पीढ़ी तक में क्रेज है। मैंने उसे बाहर आने को कहा। वह पचास वर्षीय सौम्य महिला थी जिसका नाम जुलकुमार था। उसने बताया कि उसने यह स्केच 20 मई 1978 में ताशकंद फिल्म फेस्टिवल के दौरान होटल उजबेकिस्तान में बनाया था और राजकपूर एक घंटे तक मूर्ति के समान उसके सामने बैठे रहे थे। जुलकुमार अपने पिता की बारहवीं औलाद है और उसके सामने के चार दांत सोने से मढ़े हैं और वह राजकपूर की फिल्मों के गाने गाने लगी... 'मेरा जूता है जापानी...आवारा हूं...'। सच है बॉलीवुड की फिल्में पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति की वाहक हैं। जुलकुमार ने हाथ जोड़कर हमें नमस्ते कहा।

बदले में हमने सलाम वालेकुम कहा तो हंसकर बोली-

''दस्विदानिया''

''यानी?''

''फिर मिलेंगे''...अलविदा।

म्यूजियम एक मंजिला था जिसमें समरकंद के दर्शनीय स्थलों के मॉडल के साथ ताजमहल का मॉडल भी था और तमाम चीजें आमीर तैमूर की और उसके वंशजों की थी। जो विशेष चीज थी वह थी तैमूर की पलकों के बाल, जो एक पारदर्शी डिबिया में थे। अद्‌भुत...कैसी चीजें, संजोकर रखते हैं?

हम जल्दी ही म्यूजियम देखकर फुरसत पा गए इसलिए वापिस होटल में ही आ गए। लंच के बाद शॉपिंग का प्रोग्राम था टिकुम मॉल और अलाइस्काई मार्केट में लोगों ने जी भरकर शॉपिंग की। मैंने सखी-सहेलियों के लिए उपहार खरीदे और चियर्स पब की ओर चल दिए जहां हमारा आखिरी सफर था। समोसे, आलू की रसेदार सब्जी और सैंडविच खाते हुए गाला नृत्य देखना मेरे लिए बेहद रोमांचक था। मैं प्रमिला शर्मा को छेड़ रही थी ''क्या तुम्हारे हाथों में अब भी शहतूत के नाम की मेंहदी लगी है?''

उसने समरकंद में शहतूत के पेड़ पर चढ़कर शहतूत तोड़े थे जिसके रस से उसके हाथ लाल हों गए थे। मैंने डाल झुकाकर तोड़े थे, रस तो मेरी हथेलियों पर भी लगा ही था। ''शहतूत के नाम की नहीं मिर्जा (गाइड) के नाम की लगी है मेंहदी।'' रुस्तम, मिर्जा और जासूर तीनों ही गाइड न भूलने वाली शख्यिसत हैं। ताशकंद पत्थरों का नगर कहा जाता है जहां कोमल, नाजुक भावनाओं वाला कस्बा है 'गजलाकंद' यानी गजलों की नगरी...जहां हवाएं शेरो-शायरी गुनगुनाती हैं...लेकिन जहां जमीन के नीचे...चप्पे-चप्पे में पेट्रोल के कुएं हैं...क्या कांबीनेशन है...और यह भी कि पेट्रोल 1600 सोम प्रति लीटर है और एक लीटर मिनरल वॉटर की कीमत दो हजार सोम।

एयरपोर्ट जाते हुए रास्ते में रुस्तम ने कहा-''आप दिल्ली जाएं तो दिल्ली को मेरा सलाम कहना। दिल्ली में दो साल रहकर मैंने हिंदी की पढ़ाई की थीं।'' मैं अभिभूत थी। सरहदें कभी भावनाओं को नहीं बांट सकतीं। फ्लाइट ग्यारह बजे की थी। तमाम औपचारिकताओं से गुजरने के बाद मैंने दूर कांच से दिखते ताशकंद को, उजबेकिस्तान को 'दस्विदानिया' कहा। वह देश जहां आने का कभी सोचा नहीं था लेकिन आने पर लगा कि क्यों नहीं सोचा था।

❐❐

कुमारन आशान : स्वतंत्रता का अनुगायन

गंगा प्रसाद विमल

अपने सक्रिय सृजन के 15 वर्षों में कुमारन आशान ने जिन काव्य कृतियों की रचना की, वे इस एक तथ्य की साक्ष्य हैं कि एक कवि के रूप में वे गंभीरता से भारत की दुर्दशा के प्रति सजग मलयाली भाषा के कवि होते हुए भी, उन्होंने अपने सृजन से एक भारतीय कवि के रूप में काव्य रसिकों को अपनी ऐसी पहचान दी जो बीसवीं शताब्दी के शेष भारतीय कवियों के समानुरूप थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतीय भाषाओं की कविता में जो उन्मेष दिखाई देता है, उसमें एक साथ प्रेम और सौंदर्य के प्रति नया रोमानी रुझान, भारतीय राष्ट्र के प्रति नई सचेतनता, जिसमें देश-प्रेम एक अनिवार्य तत्व के रूप में आवेष्ठित है तथा भारत के अतीत के प्रति नए प्रकार की अभिरुचि भी शामिल है। यह आकस्मिक नहीं कि वर्षों तक श्री नारायण गुरु के सानिध्य में अध्यात्म के अंतरंग से परिचित होने के उपरांत, संस्कृत ज्ञान प्राप्त करने के बाद जिस बाहरी दुनिया से उनका परिचय हुआ उसने उनकी दृष्टि में आमूल-चूल परिवर्तन किया। संस्कृत ज्ञान ने जिस आदर्शवादिता से उन्हें पुष्ट किया था, उससे बाहर की दुनिया की वास्तविकताएं सीधे-सीधे मनुष्य को छूती हैं यह बोध होते ही कुमारन आशान ने अपने निकटस्थ अतीत को देखने की जरूरत महसूस की, तथा तात्कालिक समस्याओं को समझने की चेष्टा में वे भारत के उस वक्त के समकाल के सामने आए। उनके सामने विवेकानंद और रवींद्रनाथ ठाकुर ऐसे आदर्शों के रूप में आए। जिसने उन्हें भीतर अैर बाहर से प्रभावित किया। ये वे आदर्श थे जो भारत की वास्तविकताओं से जन्मे थे। इनमें भी भारत के प्रति अनन्य प्रेम था। भारत को नए ढंग से जानने की सजगता थी। उनके बारे में यह ठीक ही कहा गया है कि आध्यात्मिक और धर्म निरपेक्ष सज्ञानता ने उन्हें एक विशेष प्रकार का सृजेता निर्मित किया है। संभवतः यही वह आधारभूमि है जहां से एक महाकवि का जन्म होता है।

कुमारन आशान की प्रारंभिक कृतियां सौंदर्य लहरी, मेघ संदेशम् (अधूरा) तथा प्रबोध चंद्रोमयम् उनके अनुवाद कर्म के कुछ ऐसे प्रमाण हैं जिनसे अध्यात्म और काव्य के प्रति उनकी आबद्धता प्रकट होती है। इससे यह भी पता चलता है कि संस्कृत अध्ययन का उनके रचनात्मक कार्यों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनका प्रारंभिक नाटक 'विचित्र विजयम' प्रभाववादी किस्म की कृति है। 'मार्कण्डेय विजयम्' नामक एक अन्य अधूरी पांडुलिपि को भी परंपरागत सृजन स्वीकार किया गया है। हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि सृजन की, आत्माभिव्यक्ति की उत्कट इच्छा

ने उनके मन-मस्तिष्क में ऐसी कृतियों की कल्पना को जन्म दिया होगा। इस संबंध में के.एम. जार्ज का कथन कि 'कुमारन आशान की तुलना शायद रेशम के कीड़े से की जा सकती... आशान के भीतर बंद रोमानी कवि ने भी प्रकट होने में अपना समय लिया।' क्लासिकी कृतियों की तर्ज पर एक दायित्वपूर्ण सृजन की उनकी मनोभिलाषा भी इससे व्यक्त होती है। उनका अनुवाद कर्म भी जैसे इसकी पुष्टि करता है।

अनुवाद के माध्यम से कुमारन आशान की कुछ रचनाओं से हमारे परिचय ने यह एक आधार तो प्रस्तुत किया ही है कि उनके मन में, चाहे वे काल्पनिक रचना 'विचित्र विजयम्' ही क्यों न हो, कहीं गहरे में उनके हृदय में दलित पिछड़े लोगों के प्रति ममत्व था। तभी 'विचित्र विजयम्' में कुम्हारों के गांव का उल्लेख है। आधुनिक लेखकों ने जिसे तर्क और विमर्श से प्राप्त किया, वह कुमारन आशान के यहां नैसर्गिक रूप से विद्यमान था।

उनकी प्रथम महत्वपूर्ण कृति 'वीण पूवु' 'एक झरा हुआ फूल' है। झरे हुए फूल के प्रति आसक्ति का और चाहे जो कारण खोजा जाए साक्षात वह एक ऐसा त्रासद भाव हैं जो स्पष्ट करता है कि कुमारन आशान की पक्षधरता निर्बलों, असहायों के प्रति कृत्रिम रूप से उभर कर नहीं आती। रोमानी भावधारा के उत्कट आवेग में भीतर कहीं गहरे बसे उस अवसाद को वाणी मिलती है, उस अवसाद को, जो 'झरे हुए फूल' की त्रासदी में व्यक्त होता है। आलोचकों ने यह भी विचार व्यक्त किया है कि स्वामी नारायण गुरु की मरणासन्न स्थिति देखकर जब कुमारन आशान बहुत क्षुब्ध और मृत्यु भय से भयभीत थे तब उन्हें आसन्न क्षरण के भाव ने व्यथित किया होगा। इसमें संदेह नहीं कि अपने गुरु की असामान्य मृत्यु ने कवि को विचलित किया होगा किंतु यह मात्र गुरु की आसन्न मृत्यु का प्रभाव ही नहीं, इस समग्र सृष्टि की अंतिम परिणति से वे आक्रांत थे। जब हम किसी एक भाव विशेष के उदार स्वरूप की चर्चा करते हैं तब यह विचारणीय हो जाता है कि त्रासद का सातत्य सृजनशील मस्तिष्क में किस रूप में संरक्षित रहता है। स्पष्ट है वह प्रिय से प्रिय व्यक्ति के तिरोधान से उतना नहीं होता जितना समाज के बीच अन्याय और दमन की शक्तियों के कुचक्र से, प्रताड़ना की उपस्थिति से। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि कवि के प्रारब्ध में वंचितों के प्रति ममत्व सृजन की मनोलौकिक निर्मिति है जो बड़े कवियों मे स्वाभाविक सी स्थिति है।

यह कम आश्चर्य का विषय नहीं कि वे निहायत धर्म सम्मत परिवार से बाहर आए थे, आरंभ में ही उन्हें एक मनुष्यधर्मी गुरु का आश्रम मिला था, पारंपरिक संस्कृति शिक्षा का भी उनके मन मस्तिष्क पर प्रभाव था, विवेकानंद और टैगोर के शीर्ष व्यक्तियों की भी एक विचारात्मक उपस्थिति उनके जीवन में थी किंतु इन सभी पक्षों की सकारात्मक भावभूमियां ही उन्होंने स्वीकार की थीं। उनके सृजन पर एक सकारात्मक, मानवीय, प्रगतिशील असर केवल बाहरी या ऊपरी नहीं था। वह विश्वास के एक नए विन्यास की तरह उनके सृजन में उभरता है। स्वतंत्रता के गीत में उनके सृजन का यह नया विन्यास 'समन्वय' के रूप में अभिव्यक्ति पाता है।

'तुमने शक्तिमान खड्ग के प्रकंपित प्रकाश को
हमारी आंखों पर पड़ने दो
उससे हमारी जंजीरों को कटने दो

इन हथकड़ियों को फिंकने दो, हे स्वामी।
हमें उठाई जिससे हम
अंधकार के प्राचीरों को ध्वस्त कर सकें
और हाथों में हाथ लिए
मुक्ति के सुखद सागर में हम खेलें'

जातिवाद, कुरीतियां, आडंबर वास्तव में अंधकार के वे प्राचीर हैं जो हमें बाहर नहीं देखने देते-कुमारन आशान स्वतंत्रता के गीत में सबको उस अंधकार से मुक्त देखना चाहते थे, और इसलिए वे अपनी रचना में मुक्ति को एक मूल्य के रूप में निबद्ध करते हैं। 'स्वतंत्रता' उनके लिए एक अधिक उदार, अधिक मानवीय अस्तित्व था। उसके प्रमुख स्तंभ आर्थिक स्वतंत्रता, समानता और मनुष्यता थे।

मुझे बताओ
क्या ब्राह्मण
किसी लता-शीर्ष से
या बादल से जन्मा है?
या क्या वह
बिना किसी अन्य अग्नि से निकले या-अग्नि की तरह उपजा है?
या जाति रुधिर में
या अस्थि में या मज्जा में पाई जाती है
क्या चांडालिन का शरीर
ब्राह्मण के रेतस् के प्रति बंधा है?
क्या यज्ञोपवीत या शिखा या मस्तिष्क पर तिलक मनुज के
साथ उपजे हैं?

उनकी 'दुरावस्था' और 'चंडाल भिक्षुकी' जैसी कविताएं हमारे जन समाज की ऐसी स्थितियों की कविताएं हैं जो न केवल मौलिक हैं बल्कि यथार्थ की बेजोड़ छवियों को उकेरने वाली कविताएं हैं। इन्हें पढ़कर कोई भी व्यक्ति भारतीय समाज की स्थितियों को बदलने के लिए कुछ भी करने के लिए प्रेरित हो सकता है। वह तमाम तरह की क्रांतिकारी, आंदोलनकारी वृत्तियों का समर्थक हो सकता है। शायद इन कविताओं की रचना के उपरांत उस मर्मांतक वेदना ने स्वयं आशान को किसी और विकल्प की ओर देखने के लिए विवश किया हो और वे ऐसे विश्वास की तलाश में रहे हों, जहां समता का दर्शन पूरी तरह से अपना वैभव प्रदर्शित करता हो।

आशान की कविता के कई स्तर हैं। उन्हें विषयों की दृष्टि से वर्गीकृत किया गया है, उनमें शैलीगत प्रकार भी उपलब्ध हैं। उनका 'नलिनी' काव्य ही अनेक ढंग की सृजन शैलियों की अनुगूंज देता है। इस काव्य का नायक दिवाकरन है। एक समीक्षक का कथन है कि 'दिवाकरन जाग्रत भारत का प्रतीक है।' अर्थात् कुमारन आशान ने अपने प्रबंध काव्यों में प्रतीकात्मक शैली का उपयोग किया है। तथापि कवि ने प्रबंध काव्यों के नायकों के काव्यगत चरित्रों में विलक्षण ढंग से उन समकालीन प्रभावों का मिश्रण किया है जो अन्यत्र दुर्लभ था। इस एक दृष्टि से

कुमारन आशान भारत के अन्य कवियों से कदाचित आगे हैं। हिंदी, बांग्ला या मराठी के उनके समकालीनों की इस दृष्टि से तुलना भी की जा सकती है। हमारा आशय मात्र इतना है कि कुमारन आशान ने काव्य की परंपरागत शैलियों में नवीनता का पुट देने के लिए ही समकालीन प्रभावों का प्रयोग नहीं किया अपितु उन्होंने उन्हें प्राचीन कलेवर से मुक्त कर आधुनिक संगति प्रदान की है जो इसलिए भी सराहनीय है कि आधुनिक या समकालीन जटिलता के भीतर नए संसार की प्रतीति होती है।

सर्वमान्य मान्यता है कि कुमारन आशान के जीवन और उनके सृजन में गहरी अंतःसंबद्धता है। वैसे भी सृजनात्मक मस्तिष्क किसी-न-किसी रूप में अपने जीवनी विवरणों को वस्तु के साथ तटस्थ भाव से पिरोता चलता है। कभी-कभी वह उन्हें बिलगाता भी है खासकर कविता में, क्योंकि कविता में आत्मकथात्मक विवरण एकदम निजी होने के कारण सार्वजनिक नहीं हो पाते। तथापि आशान का आरंभिक रुझान, जो उनके जीवन के सभी पक्षों में दिखाई देता है उनके परवर्ती विकास में भी जैसे साथ-साथ चलता और काव्य के विविध स्तरों पर अपना रूप उसी विकसन के साथ पाता है। कुमारन आशान श्री नारायण गुरु से प्रभावित और प्रेरित थे। उन्होंने अपने समय में बहुत सी रूढ़ियों के निदान के लिए भक्ति के एक ऐसे मार्ग की ओर संकेत किया था जो सर्वधर्म समभाव के रूप में बाद में व्याख्यायित किया गया है? धीरे-धीरे अपने वैचारिक आधारों को अधिक सुस्पष्ट करते हुए कुमारन आशान ने अपनी कविता में ही उस परिवर्तन को वाणी देना आरंभ किया जो उनके जीवन में घटित हो रहा था। वे बौद्धमत से आकृष्ट थे और अपने समय के सर्वाधिक सक्रिय कवि विश्वकवि रवींद्रनाथ की तरह ही वे बौद्ध अवधारणाओं की ओर आकर्षित हुए थे। कुमारन आशान के काव्य के सतत वैचारिक वृति में हम यह देखते हैं कि वे एक ऐसी वैचारिक दृष्टि के निर्माण में लगे थे जो लोकोत्तर की ओर संकेत तो करती है परंतु उसकी जड़ें भीतर ही भीतर सृष्टि में मजबूती से जमी हुई थी।

कुमारन आशान एक कवि के रूप में अपने अन्य समकालीनों से भिन्न हैं, शायद वे भारतीय भाषाओं में सृजनरत अन्य समकालीनों से भी अलग से हैं क्योंकि उनकी कविता में वस्तु और रूप के कुछ ऐसे परिवर्तन मिलते हैं जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उन पर जहां शास्त्र का गहरा असर पड़ा हुआ था वहीं उन पर अपने समय का प्रभाव भी परिलक्षित हो रहा था। जिस काल में वे सक्रिय रहे उस कालखंड में स्वाधीनता आंदोलन का प्रभाव जोरों पर था। इसलिए उनके काव्य में स्वतंत्रता की अवधारणा एक उन्मुक्त और स्वच्छन्य वृति की न होकर दायित्व और पूर्णता बोध से भरी हुई है। यही विकास हम ऐसे अन्य कवियों में पाते हैं जो उस काल में सृजनरत हैं किंतु सबमें कुछ दृश्य अंतर भी दिखाई देता है। हमारा लक्ष्य कवियों की तुलना नहीं है। उल्लेखनीय है कि बीसवीं शताब्दी के आरंभ के दशक भारतीय और पश्चिमी चिन्तकों की चिंतन शैलियों से लेकर आदर्शों की प्राप्ति के अभियानों से भी प्रभावित रहे हैं। इन दशकों के समूचे सृजन पर एक नजर डालें तो प्रभावों की सुनिश्चित दिशाएं दिखाई देंगी। ऐसे बहुत सारे कवि हैं जिन पर क्रांतिकारी विचारधाराओं का सुस्पष्ट प्रभाव है। इन प्रभावों और प्रभावों के केंद्रस्थ व्यक्तियों के उपलब्ध जीवनी वृतांत एक पूर्ण परिचित रेखा की भांति हरेक गतिविधि को छूते हुए से दिखाई देते हैं। अतः बीसवीं शताब्दी

के आरंभिक दशकों को भारत की स्वाधीनता या कहें भारत की आजादी के संघर्ष से प्रभावित मुक्ति रस प्रेरित कालखंड के रूप में याद किया जाता है। कुमारन आशान उससे अप्रभावित नहीं थे। तथापि कहना पड़ेगा कि उन्होंने अपने पुराकथा मोह में उन्हीं आधारों का समर्थन किया जिनमें 'स्वतंत्रता' जैसे तत्व का समावेश था। इस दृष्टि से वे एक आधुनिक कवि नजर आते हैं जो अतीत के परिदृश्यों में वर्तमान और भविष्य का चित्र अंकित करते रहते हैं। एक समीक्षक ने ठीक ही कहा है कि वे निराशा के कवि नहीं हैं। आशावाद में वे भविष्य का एक परिदर्शन करते हैं जिसे सामान्य रूप से भी हम पुनर्निर्माण की आकांक्षा कह सकते हैं। पुनर्निर्माण इस अर्थ में जो कुछ अतीत में था वह खंडित दिखाई देता है तो उसे भविष्य में पुन-निर्मित होना ही है। वास्तव में कुमारन आशान अपने प्रबंध काव्यों में पुराकथाओं के कुछ नए सूत्र रचते हैं और वे सूत्र उनकी अन्य कविताओं में भी व्यज्जित हो जाते हैं। उनकी प्रसिद्ध कविता, ''एक झरा हुआ फूल'' इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। प्रकटतः एक झरा हुआ फूल दुःखांत को व्यक्त करता है किंतु यह दुःखांत उस शाश्वत सत्य का बोध है जो भारतीय साहित्य का प्राचीनकाल से आधारभूत चिंतन बिंदु है। तथापि प्राचीनकाल से जिस सत्य की प्रतीति के लिए काव्यत्व का यह मोह कविगण स्वीकार करते हैं उसे मात्र आकस्मिक मानना कठिन होगा क्योंकि दुःखांत का भाव दुःख के अंत से फिर एक नए स्वप्न का निर्माण करने लगता है। असल बोधात्मक, भावात्मक, आवेगात्मक शक्ति यहीं कहीं विद्यमान है।

कुमारन आशान मुख्यतः एक ऐसे कवि थे जिन्होंने अपने निजी सुख-दुःख की अपेक्षा समूचे समाज की त्रासद स्थितियों के प्रति एक दायित्वपूर्ण ढंग से कविता में अपना पक्ष रखा। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि उनके इस पक्ष पर विवेचकों ने कम अनुसंधान किया। जैसा कि सर्वविदित है कुमारन आशान ने ''चंडाल भिक्षुकी'' जैसी कविता में सामाजिक दुरवस्था को मुख्य आधार बनाया किंतु विवेचकों ने उनके कलापक्ष को ज्यादा महत्व प्रदान किया। अपने काव्य विवेक में आशान विराट स्तर पर सामाजिक एकत्व का स्वप्न देखते थे किंतु उनके विचारों और उनके प्रयत्नों का उतना सत्कार नहीं किया गया बल्कि मुसलमान लोग उनसे नाराज रहे क्योंकि उन्होंने दंगे की पृष्ठभूमि को अपना काव्य विषय बनाया था। इस सारी पृष्ठभूमि का महत्व आज समझ में आता है। एक ओर आशान मिथकीय दुनिया से बेजोड़ स्मृति लाते हैं तो दूसरी ओर वे समसामयिकता के अंतर्संबंधों के लिए भी उन्हीं का प्रयोजनपरक इस्तेमाल करते हैं। यह कविता की दुनिया की कोई पहेली नहीं है बल्कि कवि के शैल्पिक विकास का एक चरण है। जैसे जैसे लोग कवि के इस अनूठे विन्यास से परिचित होते हैं पाठकों को वह सब कुछ सामान्य प्रतीत होता है जो आरंभ में अत्यधिक विक्षुब्ध करता था। एक विद्वान ने ठीक ही कहा है कि ''चाहे 'नलिनी' हो या 'लीला' चाहे 'सीता' हो या 'करुणा', हमें उनके विलाप-काव्यात्मक भावनाओं के दर्शन होते हैं।'' हम देखते हैं कि सारी नायिकाओं पर जो आलोक है वह उनकी करुण दशा कारुणिक सघनता में करुणा के सारे विन्यासों के साथ रसज्ञ जनों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आशान जब उनको हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं तो वे या तो इस भौतिक संसार को छोड़ने के त्याग भाव से प्रेरित हैं या कम-से-कम जीवन के भौतिक सुखों को त्याग करने वाले विवरणों को प्रस्तुत करते हैं तो वे विषय के प्रस्तुतीकरण की प्रणाली भी अपने शैल्पिक परिवेश में

परिवर्तित कर देते हैं। आशान के काव्य की यह एक ऐसी विशेषता है जो उन्हें अन्य सृजेताओं से पृथक करती है। वे ख्यात चरित्रों के भीतरी भाव संसार को, उसकी समग्रता में प्रस्तुत कर भारतीय काव्य के उस तात्त्विक उत्कर्ष को ही चित्रित करते हैं जिसमें वह करुणा के उत्कृष्टतम संबोध का स्पर्श देते हैं। 'करुणा' की नायिका का भाव संसार उसके भौतिक रूप से विसर्जन के उपरांत अधिक अर्थमय ढंग से आशान द्वारा व्यक्त होता है।

'और वह कुछ नहीं है
करुणा की गहराईयों में परिशोधित
आबदार देदीप्यमान मोती के सिवा'

कुमारन आशान संक्रमण काल के कवि हैं। उन पर परंपराओं का पूर्ण प्रभाव है किंतु वे परंपराओं के उस ढंग के अनुगामी नहीं हैं जो परंपराओं को तर्कहीन रूप में स्वीकार किए जाते हैं। वे परंपरा के उत्कृष्ट की भरपूर सराहना करते हैं किंतु अर्थहीन प्रतिकृतियों की उपेक्षा करते चलते हैं। वे अपने समय के उन प्रभावों से भी एकदम अप्रभावित हैं जिन्हें हम अनुदारता का आवेश कहते हैं। इस दृश्टि से उन्होंने अपने समय के प्रभावों को भी स्वीकार नहीं किया। आधुनिकता के जितने पक्ष उनके जीवन काल में उद्घाटित हो रहे थे उनकी ओर मंत्रमुग्धता से देखने की कैशोर्य वृति से वे मुक्त थे किंतु उनकी भविष्य दृष्टि इतनी संपन्न थी कि आधुनिकता के सकारात्मक बिंदुओं को उन्होंने अनेक दृष्टियों से स्वीकृति दी है। अतः जब उन्हें संधिकाल का कवि कहा जाता है तो वह संधिकाल दो युगों की उत्कृष्टता के चयन से जुड़ा होने के कारण कवि के विवेक का भी निर्णायक आधार है। इसी के परिप्रेक्ष्य में हम उनकी विश्वदृष्टि का आकलन भी कर सकते हैं। परंतु उससे पूर्व कुमारन आशान के विचारदर्शन से पूरा परिचय पाना पड़ेगा तथापि यह स्वाभाविक ही है कि कुमारन आशान अपने समय के विलक्षण प्रतिभाशाली कवि होने के साथ भारतीय परंपरा में बसे एक ऐसे कवि थे जिन्होंने पौर्वात्य साहित्य के गहन अध्ययन से वह अनुबोध पा लिया था जिसे हम उनके विचार दर्शन का आदि सूत्र कह सकते हैं। यह आदि सूत्र था भारत के लोक में व्याप्त गहरी निष्ठा का भाव जो किसी भी व्यक्ति को द्विचित्त नहीं रहने देता था। वह भाव जो भारत नाम की संज्ञा को दूरित करता था और तत्त्व चिंतन की एक विकसित दृष्टि देता था।

प्रोफेसर रामचन्द्र देव ने 'आशन काव्य में दर्शन' शीर्षक अपने निबंध में एक मार्के की बात यह कही है कि 'कुमारन आशान के काव्य में दर्शन अप्रकृत तत्त्व नहीं है', अर्थात् दर्शन की उपस्थिति बाहरी कारकों के कारण नहीं है वह तो अंतरान्वेषी आधार पर एक स्वाभाविक-सी विकास रेखा है। उन्होंने कुमारन आशान में विचारगत स्थितियों को भावान्तरण की प्रक्रिया के रूप में ही देखा था। प्रो. देव स्पष्ट करते हैं कि 'तात्त्विक दृष्टि से देखने पर 'अहम्' और 'इदम' के पारस्परिक संबंध को लेकर ही मानव-मनीषा प्रथमतः उन्मिषित होती है। कलात्मक व्यापार उससे पृथक नहीं हो सकता। सहज व्यापारों में प्रवहमान मानव-चेतना उनकी उत्पत्ति और उपयुक्तता दोनों के संबंध में स्वयं निष्कर्ष निकालती रहेगी। कविता वाह्य जीवन के तरंग-संकुल सागर में 'अहम' की एकान्त यात्रा की नौका तो है ही और अतएव उसकी गहनता के उपकरण भी। कविता और दर्शन के पारस्परिक संबंध का रहस्य है।' स्पष्ट है कुमारन आशान की विचार

दृष्टि का निर्माण एक नहीं अनेक अन्य तत्वों से निर्मित होता है। कुमारन आशान ने कालजयी भारतीय साहित्य का अपने अध्ययन के दौरान ही परिचय प्राप्त कर लिया था। भारतीय दर्शन का तो उनके अध्ययन को गहन अध्ययन ही कहना पड़ेगा क्योंकि एक सम्यक विवेक दृष्टि उसी अध्ययन के फलस्वरूप निर्मित हुई थी। अद्वैत और वेदांत का आधिकारिक ज्ञान तो उस संत श्री नारायण गुरु जी के सानिध्य में मिला था। अद्वैत की शंकर व्याख्या के गुरु-शिष्य दोनों अनुयायी थे। तथापि दर्शन की एक और परंपरा के प्रति कुमारन आशान की गहरी रुचि थी उसका संकेत भी विद्वान प्रो. रामचन्द्र देव ने अपने निबंध में दिया है। तथापि उनके निष्कर्षों को तर्काश्रित होने पर भी स्वीकार किया जा सकता है। वे अद्वैत से तो पूर्णरूप से प्रभावित थे किंतु यह मानना पड़ेगा कि उनकी दृष्टि धर्म की संकीर्णता से मुक्त थी। उनका पश्चिमी धर्म दर्शन का ज्ञान भी विस्मित करने वाला था और यही कारण है कि वे तर्कहीन अंहवृति के शिकार नहीं हुए। विचित्र-सी बात है कि वे पूर्व और पश्चिम के नया ज्ञानोदय के काल में पैदा हुए किंतु वे पश्चिम के अंधभक्त नहीं थे। जैसा कि ज्ञानोदय के उस काल में हम अनेक ऐसे बुद्धिजीवियों की उपस्थिति भी पाते हैं। जो सर्वांग रूप से पश्चिमी रंग में लिप्त हो उठे। इसके उदाहरण कहीं बाहर से नहीं लेने पड़ेंगे अपितु भारतीय कवियों और समाज केंद्रित अध्ययन करने वाले विद्वानों में ऐसे बहुत से साक्ष्य दिखाई देंगे।

कुमारन आशान को मध्यमार्गी भी नहीं कहा जा सकता यद्यपि मध्यमार्ग के गुणधर्म उनमें हैं केवल उसी सीमा तक जिस सीमा तक भारत के स्वीकार के उनके अपने रास्ते हैं। वे एक पथानुगामी नहीं थे किंतु उन्हें बहुपथगामी सिद्ध करना भी दुष्कर है। वे अपनी काव्य दृष्टि में जितने भारतीय हैं उतने भारतीय वे अपनी दर्शन दृष्टि में नहीं हैं। उनकी काव्य दृष्टि और दर्शन दृष्टि का उल्लेख केवल इस कारण किया जा रहा है कि दर्शन दृष्टि में जो प्रभाव हैं वे काव्य दृष्टि में नहीं हैं। इस अर्थ में कि वे भारतीय दर्शन के कुछ आधारों का अतुलनीय भी मानते हैं। असल में यह प्रकरण केवल इसलिए उठाया जा रहा है कि इस द्वंद्व से हम उस तनाव का आभास पा सकें जिसका एक सृजेता के लिए विशेष अर्थ होता है अर्थात् वह कविता के अपने विवेक में नई दृष्टि का अहसास देने की सामर्थ्य से सिक्त होता है।

विचित्र यह भी है कि इसी सद्धर्म की पथ-वीथिका में कुमारन आशान सत्य और स्वतंत्रता के नए अनुभवों के बीच भी गुजरते हैं :

'सत्य की सांस लिए
समता को देखते हुए
सद्धर्म के मार्ग से
मानव चलता रहे।'

सत्य, सद्धर्म और समता एक ही परंपरा के सूत्र नहीं है परंतु आशान इससे निसृत वाले आलोक से वे जिन ये निष्कर्षों की ओर बढ़ते हैं वह--

'स्वातंत्र्य ही अमृत है,
स्वातंत्र्य ही जीवन है'

सत्य और समता के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वे स्वातंत्र्य के अमृत को अनिवार्य

मानते हैं। अपनी कविता 'स्वातंत्र्य गाथा' में कुमारन आशान स्वतंत्र्ता के गहरे अर्थों की ओर संकेत करते हैं। साथ-ही-साथ वे स्वतंत्रता के नए अर्थ संदर्भों से परिचित कराते हैं।

आशान पर भारतीय अध्यात्म के प्रभावों के संदर्भ में विचार करना जरूरी है। कहा भी गया है कि 'आशान के बहुमुखी व्यक्तित्व के रूपायन में मतिवर्य श्री नारायण गुरु का योगदान सबसे महत्वपूर्ण था। फिर उन्होंने संस्कृत का भी गंभीरता से अध्ययन किया था। अचरज नहीं होना चाहिए कि उनकी आरंभिक भक्तिपरक रचनाएं इसी प्रभाव का प्रतिफल हों, तथापि भक्ति भाव को अनासक्त प्रेम काव्य कहने वाले भी मिल जाएंगे। सत्य साक्ष्यों के आधार पर उनका अनासक्त प्रेम काव्य वास्तव में काव्य के उच्चादर्शों से संपृक्त रहा है। वे एक तरह से अनुद्वेगकारी उच्चादर्श की प्राप्ति के लिए शृंगार से अनासक्ति की ओर मुड़े और उन्होंने इस क्रम में अपनी काव्य शृंखला में जो भी पुराकथा आधार स्वीकार किए उनके मूल में करुणामयता जैसे उन्हें सर्वाधिक प्रिय थी संभवतः यही एक सूत्र है जिसे बौद्ध प्रभाव के रूप में विवेचकों ने कालांतर में कवि कुमारन आशान की चिंतनधारा से जोड़ा। अब यदि अंतः साक्ष्य के रूप में नारायण गुरु, संस्कृत साहित्य अथवा वाङ्मय में दक्षता और करुणा को बौद्ध प्रभाव स्वीकार किया जाता है तो अंग्रेजी भाषा के प्रति उनके मोह, अंग्रेजी के बड़े कवियों कीट्स, ब्राउनिंग की सराहना, रवींद्रनाथ और शरतचंद्र के साहित्य के प्रति कृतज्ञता व बांग्लाभाषी अंग्रेजी लेखकों के प्रति अतिरिक्त रुझान को क्या गैर मलयाली प्रभाव के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है? स्पष्ट है इसे भी बौद्ध प्रभाव के रूप में ही अस्वीकार करना पड़ेगा और साफ-साफ मानना पड़ेगा कि कवि कुमारन आशान के कवि व्यक्तित्व की ये रेखाएं उनके विकास को द्योतित करती हैं न कि उन पर पड़े प्रभावों के रूप में उन्हें सीमित करती हैं। यहीं स्वतंत्र्ता संबंधी उनके चिंतन का सही अर्थ उद्घाटित होता है और उनके विशुद्ध भारतीयपन का प्रकरण अधिक सुस्पष्ट रूप से अर्थग्रहण करता है जो स्वतंत्रता के अमृत से जीवनी शक्ति प्राप्त करता है।

'स्वतंत्र गाथा' नामक गीत उनके काव्य सृजन की विस्मयकारी घटना ही कही जा सकती है। उससे पूर्व अपनी एक अन्य कविता 'ओरु उद्बोधनम्' अर्थात् एक उद्बोधन में उन्होंने सुप्त जन शक्ति को जगाने और एकजुटता द्वारा अपना लक्ष्य हासिल करने की प्रेरणा के रूप में लिखा था। उनका मत था कि स्वतंत्रता ही अमृत है, स्वतंत्रता ही जीवन है। आगे चलकर 'स्वतंत्र गाथा' में उन्होंने स्वतंत्रता के अन्य पक्षों की ओर भी संकेत किया। वे केवल राजनैतिक स्वतंत्रता के अन्य पक्षों की ओर भी संकेत किया। वे केवल राजनैतिक स्वतंत्रता के पक्षधर नहीं थे। सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता के साथ-साथ वे सांस्कृतिक स्वतंत्रता के भाव को नई नैतिक निष्ठा के साथ उठाते हुए उसे मानव अस्तित्व के लिए अनिवार्य सिद्ध करते हैं।

'ओ स्वतंत्रता-साम्राज्य के महाधिपति
ओ स्वामी तुम जो स्वर्ण-सिंहासन को सुशोभित करते हो
ऐश्वर्य से आलोकित
राजसी हाथों में
देदीप्यमान किरणों का राजदंड लिए
तुम्हारे शासन की जय हो'

स्पष्ट है कवि शासन को सुशासन के रूप में ही देखता है। अगली पंक्तियों में समूची कविता अपने अर्थ संदर्भों के साथ-साथ एक रचनात्मक विकल्प बन आती हैः

'वे पीढ़ियां जो पीड़ाओं से मुंह न फेरेगीं
उन्हें तुम्हारे नाम का घोष करने दो
और उसे इस धरती पर प्रतिध्वनित होने दो...'

कुमारन आशान दासता के ऐतिहासिक दबाव को भली-भांति जानते थे। वे भारत के कृषक की दयनीय हालत के स्वयं गवाह भी थे। आने वाली पीढ़ियों उस सच्ची आजादी की प्राप्ति करें इस भावना को वे अपने मन में जीवित रखे हुए थे। देखा जाए तो जिस दीर्घ संघर्ष का प्रतिफलन 'स्वतंत्रता' थी उसके अमृत तत्व से वे शेष मानव समाज को भविष्य का एक ऐसा लोक स्वप्न की ओर प्रेरित कर रहे थे जहां स्वतंत्रता का जयघोष सदा गुंजारित रहे। यह आश्चर्य का विषय नहीं कि अपने संस्कृत अध्ययन के दौरान उन्होंने भारत के अतीत के उत्कर्ष का बोध किया हो और वे ऐसी ही मनुष्य जाति के विकास का सपना देख रहे हों क्योंकि उनके अंतःस्थल में यही एक विश्वास विद्यमान था कि मनुष्य जाति दीर्घ संघर्ष से उस स्वप्न लोक की प्राप्ति करेगी। भारतीय कवियों में उन्हें हम 'क्लासिकी' कवियों की परंपरा का सर्जक मानते हैं। इसकी पुष्टि के लिए प्रो. टी. एन. विश्वन का एक कथन लेते हैं 'अपने काव्यों की भावभूमि में आशान के दो स्पष्ट चरण है उपनिषदीय दर्शन की निम्नोन्नतस्थली से गुजरकर आई राह पर प्रेम का संदेश और अन्यत्र जीवन के कटु यथार्थों से तप्त रेतीली राह पर क्रांति का आक्रोश। अपनी आरंभकालीन रचनाओं में स्थल काल सीमाओं से दूर उड़ने वाली कवि कल्पना का चमत्कार है।... उत्तरकालीन रचनाओं में जाति संबंधी विचारों की जंजीर में पड़ने के कारण स्वतंत्रता के पथ से दूर रहर कर संस्कृति के क्षेत्र की सीमा से कोसों दूर रहने वाले केरल के उन्नयन के इच्छुक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। जाति की निरर्थकता का स्पष्टीकरण 'चण्डाल भिक्षुकी' के द्वारा किया गया है और जाति भेद निरास का मार्ग 'दुरवस्था' के नायक-नायिका अछूत युवा और ब्राह्मण कन्या के विवाह के द्वारा दिखाया गया।' वस्तुतः प्रो. विश्वन आरंभिक और उत्तरकालीन विभाजन को कवि के रचनाकर्म के दो कालों के रूप में देख रहे हैं जबकि दोनों काल एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप में जुड़े हैं। आरंभिक काल की कविताएं एक प्रस्तावना के रूप में देखी जाएं तो बेहतर क्योंकि उनमें आवेगात्मक उद्दामता है। प्रेम और अनुराग के उतने तीव्र उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलेंगे साथ-ही-साथ अन्य भावावेगों की प्रखर धाराएं भी हमें कुमारन आशान की शुरू की कविताओं में दिखाई देती हैं परंतु परवर्ती कविताओं में काव्य सृजन के उत्तरोत्तर विकसित होते पक्षों को आज हम यह कह कर खारिज नहीं कर सकते कि वे आरंभिक कविताओं के प्रस्तावों की ही आरंभिक प्रस्तावना जैसी हैं। उनकी परवर्ती कविताओं में क्षोभ, वासना, कटुता, शौर्य कम नहीं है किंतु परवर्ती काव्यों में विषयों की दृष्टि से भी एक विस्तार झलकता है। बहुधा आशान के काव्य को लेकर उन्हें संकीर्ण दृष्टि संपन्न सिद्ध करने का संकेत भी अनेक विवेचकों ने किया है। अतः उनकी 'यत परिवर्तन रसवादम' कृति का उल्लेख किया जाता है। इस कृति में उल्लिखित उनके विचारों पर खुलकर बहस होनी चाहिए। इसलिए भी कि ये हमारे समाज के ऐसे कुछ अनुन्तरित प्रश्न हैं जिनके उत्तर खोजने के लिए कुमारन आशान बेचैन थे। स्पष्ट

है कि बीसवीं शताब्दी ने दूसरी संकीर्णताओं की तरह संकीर्ण मतवाद पर विचार करने का काम टाला है। निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति ने यथार्थ के कडुवे रूप से सामना करने की वृति विकसित ही नहीं होने दी। आप आशान के विवेचन से असहमत हो सकते हैं किंतु आशान के साहस की दाद देनी पड़ेगी कि उन्होंने हमारे खुले समाज के उन नासूरों का विवरण दिया है जो उदार समाज की रचना की सबसे बड़ी बाधा है। भारतीय समाज में जातिवादी संकीर्णता उसी का एक प्रकरण है जिस पर रूढ़िग्रस्त समाज में रहते हुए विवेकपूर्ण और न्यायपूर्ण ढंग से कुमारन आशान ने लिखा है। वे चुनौतीपूर्ण ढंग से कहते हैंः

'तुम स्वयं नियम अपने बदलो
अपना वह नियम बदल डालेंगे तुमको'

इस खराब अनुवाद से झरते उस आशय से हम कुमारन आशान की अभीप्सा को आंक सकते हैं। भारतीय भाषाओं में स्वतंत्र, स्वायत्त, उदार अनुवाद की परंपरा या भाष्य का सहारा न लेकर शब्दानुवाद का जो पश्चिमी तौर तरीका है उसी का प्रतिफल है कि महाकवि आशान की कविताओं के अच्छे अनुवाद उपलब्ध नहीं हो सके। यह तो कुमारन आशान की कविता के अद्वितीय विषय हैं, उनकी आवेगात्मक भाषा है, उन विषयों की अवधारणात्मक सघनता है जो संकेत में ही सही उनके कथन के आस्वाद की झलक दे डालता है। इस अर्थ में उनकी लघु कविताएं भी उनकी बड़ी कविताओं की तरह अपने ही ढंग से महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी एक कविता 'सिंहनादम्' के. एम. जार्ज के अनुसार, 'बहुत ही शक्तिशाली पुकार है, जिसके द्वारा कवि अपने अनुयायियों को जाग्रत करता है : जागो जागो भाइयों, जल्दी करो, अपनी रणभेरी बजाते हुए जाओ और रोको जाति के राक्षस को, जहां भी जमाता हो वह पैर अपने।' वस्तुतः कुमारन आशान भारतीय जनमानस में रूढ़िग्रस्तता की दासता से भी मुक्ति चाहते थे और ऐसी मुक्ति राजनैतिक मुक्ति को ज्यादा अर्थवान बना डालती है। उनकी दृष्टि में भारतीय जन एक साथ बाहरी गुलामी की जंजीरों से बंधा होने के कारण अपने मनोलोक में भी अनेक अन्य दासताओं से ग्रस्त है। वे भारतीय जन को उस भीतरी दासता से मुक्त देखना चाहते थे और इसी कारण वे राष्ट्रीयता के प्रश्न पर अपने सांकेतिक विकल्पों को भी प्रस्तुत कर रहे थे।

कुमारन आशान पूरे भारत के लिए चिंतित थे। वे रचते तो मलयालम् में थे किंतु स्व भाषा के जरिए वे पूरे देश की जनाकांक्षाओं को वाणी दे रहे थे।

'तुम्हारे शक्तिमान खड्ग के प्रंकपित प्रकाश को
हमारी आंखों पर पड़ने दो
उससे हमारी जंजीरों को कटने दो
इन हथकड़ियों की फिंकने दो हे स्वामी!
हमें उठाओ जिससे हम
अंधकार के प्राचीरों को ध्वस्त कर सकें'

'स्वतंत्रगाथा' उनकी अतुलनीय कविता है जिसमें हम एक साथ कई प्रकरण खुलते देखते हैं। इसके पुनरुल्लेख की इस अवसर पर जरूरत आन पड़ी है कि स्वतंत्रगाथा अपनी परिपूर्णता में आसन्न स्वतंत्रता की पदचापें ध्वनित करती है अतः देखना यह है कि भारतीय कविता में

चिंतन के स्तर पर कविताएं तो पूर्ण स्वराज्य का सपना ले रही हैं परंतु उस काल का राजनैतिक विवेक अभी तिलक की संपूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य तक नहीं पहुंचा था। यह जानना काफी दिलचस्प होगा कि भारत के तथाकथित बुद्धिजीवी, वकील, डॉक्टर, राजनेता, शिक्षक और वाणिज्य आदि के क्षेत्रों में अंग्रेजों की बराबरी करने वाले लोग भी पूर्ण स्वतंत्रता एक हवाई चीज मानते रहे हैं। यदि कवियों की वाणी और तत्कालीन राजनैतिक चिंतन की तुलना की जाए तो राष्ट्रीय स्तर पर जनता के हृदय की आकांक्षा को अभिव्यक्ति देने का काम कवियों-कलाकारों ने ही किया है और इस प्रसंग में कुमारन आशान जिन्हें उनकी कुछ रचनाओं के लिए परंपरावादी, शास्त्रवादी कर पीछे धकेलने की कोशिश हुई है एक नए, आधुनिक, अग्रणी कवि सिद्ध होते हैं और इसका प्रमाण उनकी स्वतंत्रगाथा कविता ही है।

भारत को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जानने वालों की सूची में कुमारन आशान का नाम अग्रणी इसलिए भी रहेगा कि भारतीय इतिहास के रुग्णतम काल में वे रचनारत हुए और उन्होंने खुले रूप में भारतीय दासता के उन अंतः सूत्रों को प्रदर्शित किया जो भीतर-ही-भीतर भारतीयता के मूल स्वरूप को कुतरने और खंडित करने में लगे हुए थे और वे ही प्रमुख कारण भी थे, जिनसे हम गुलाम बने हुए थे। भारतीय दासता पर मत एक वैज्ञानिक चिंतन था जो कुमारन आशान के रचनात्मक वैभव में संरक्षित है। कुमारन आशान, रवींद्रनाथ, अरविंद और गांधी के समकालीन थे। वे अरविंद और गांधी से प्रभावित थे इसके ठोस प्रमाण खोजने पड़ेंगे परंतु इतना निश्चित है कि भारतीय आजादी को अपने ढंग से प्रभावित करने वाले शीर्ष व्यक्तित्वों का कुमारन आशान को ज्ञान था। वे अपने कलकत्ता प्रवास में रवींद्रनाथ के संपर्क में भी आए थे इस पर अंग्रेजी के एक मलेशिया निवासी अध्यापक ने कार्य भी किया है। इससे यह तो सिद्ध होता है कि कुमारन आशान अपने समय के ऐसे क्रांति दृष्टा कवि थे जो पूरे भारत को उस काल खंड में अनेक मुद्दों पर संतप्त पाते हैं।

मलयालम् काव्य की दीर्घ परंपराओं को भारतीय भाषाओं की परंपराओं के संदर्भ में ही देखा जा सकता है। भारतीय भाषाओं पर पश्चिम के प्रभाव से उदित होने वाली आधुनिकता को भी इसी आशय से देखा जा सकता है। कुमारन आशान आधुनिकता के संवाहकों में अग्रणी हैं, उन्होंने अपनी काव्य परंपराओं के महत्व को रेखांकित कर वस्तु, शिल्प और विवेक के स्तर पर नवीनता का सूत्रपात किया। उन्हें हम 'महाकाव्यों' के युग के कवियों के समानांतर रूमानी भावधारा के अग्रणी कवि के रूप में पाते हैं।

❐❐

लघु से विराट का संधान करते यायावर अज्ञेय

चंद्रकांता

तारसप्तक की भूमिका में अज्ञेय कवि और काव्य के बारे में अपने विचार व्यक्त करते लिखते हैं, 'कवि का काव्य उसकी आवाज का सत्य है। यह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है और सत्य जितना व्यापक होगा, काव्य उतना ही उत्कर्षकारी होगा।'

अज्ञेय व्यक्ति की स्वतंत्रता के पक्षधर रहे, निजता को उन्होंने मान दिया। शायद इसी कारण जनवादी-प्रगतिवादी खेमे उन्हें व्यक्तिवादी, अहंवादी करार देते रहे लेकिन अज्ञेय की स्वतंत्रता निज तक सीमित नहीं थी। 'व्यक्ति और व्यवस्था' पर बात करते वे कहते हैं, 'मेरी स्वतंत्रता एकांत मेरी नहीं, बल्कि ममेतर की स्वतंत्रता है, दूसरे के मुकुर में ही मैं अपनी स्वतंत्रता को और स्वयं को पहचानता हूं, स्वतंत्रता को उन्होंने मानव मन का नहीं मानव आत्मा का कुसुमन' कहा। सृजन को भी वे स्वायत्त मानते रहे पर यहां भी स्वाय त्तता समाज से विच्छिन्न नहीं थी। उन्होंने गहन चिंतन और आत्मानुशासन से निजी यथार्थ को वृहत्तर समाज तक पहुंचाकर उसे व्यापकता दी। नई राहों का अन्वेषण किया। नए प्रयोग किए। अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' से प्रयोगवाद का जन्म माना जाता है, पर अज्ञेय 'प्रयोग' को 'वाद' समझने का विरोध करते रहे। वादों, खेमों में साहित्य को बांधना, उसकी स्वायत्तता पर अंकुश लगाना था, जो अज्ञेय को मंजूर नहीं था।

बदलते संदर्भों, समय स्थितियों और नए भावबोध को साहित्य में उतारने के लिए, नई भाषा-शिल्प और अभिव्यक्ति कौशल की जरूरत थी। अज्ञेय ने इस जरूरत को समझकर छायावादी-प्रगतिवादी भाषा-शैली से भिन्न अपनी एक अलग अभिव्यक्ति शैली ईजाद की। अज्ञेय का समय राष्ट्र में उथल-पुथल का समय था। स्वाधीनता संग्राम से स्वतंत्रता प्राप्ति और बाद में नई रीति-नीतियां, मोहभंग की स्थितियां। वैज्ञानिक प्रगति से नई विचारधाराएं पनप रही थीं। ऐसे में नई सच्चाईयों को लेखक किस भाषा शैली में उतारकर नए सत्यों का रूप दे और उनका साधारणीकरण कर जनता तक पहुंचाएं इसके लिए नए प्रयोग अनिवार्य थे।

इस अनिवार्यता को महसूस कर अज्ञेय ने काव्य धारा को नया मोड़ दिया। शब्द संस्कार के प्रति सजग अज्ञेय ने साहित्य को नई भाषा शैली ही नहीं दी, शब्दों को बरतने की तमीज भी सिखाई। शब्द सौंदर्य और कलात्मकता के नए प्रयोगों पर जोर देने के कारण उन्हें 'कलावादी' कहकर आम जन की पीड़ा और समस्याओं के प्रति असंवेदनशील भी कहा गया। ऐसे टिप्पणीकारों

और छद्म बौद्धिकों ने जरूर उनके विशद साहित्य को पढ़े बिना ही ऐसे निष्कर्ष निकाले होंगे। यदि अज्ञेय जन समाज से विमुख होते, तो न धार्मिक उन्माद के कारण हुए रक्तपात पर वह अपनी रचनात्मक प्रतिक्रिया देते, न ही स्वाधीनता संग्राम में सक्रिय भागीदारी निभाते। स्वतंत्रता और समता के हिमायती अज्ञेय, भगत सिंह के क्रांतिकारी दस्ते के सदस्य रहे, दूसरे विश्वयुद्ध में फौज में भी भर्ती हुए। सशस्त्र क्रांति से शुरू कर महात्मा गांधी की अहिंसा नीतियों को स्वीकारने वाले अज्ञेय ने निजी स्वतंत्रता के साथ समस्त मानव जाति की स्वतंत्रता और हिमकामना के स्वप्न देखे। वे कहते हैं, 'हमने भी सोचा था, कि अच्छी चीज है स्वराज/हमने भी सोचा था, कि हमारा सिर ऊंचा होगा एक्य में...।'

आजादी प्राप्त करने के साथ ही विभाजन की त्रासदी के दौरान जो सांप्रदायिक उन्माद हिंसा और हत्या का तांडव हुआ, उसने उन्हें मर्मांतक पीड़ा दी। 'शरणार्थी' शीर्षक से छपी ग्यारह कविताओं की शृंखला में उनकी एक कविता में वे लिखते हैं 'न जाने किस हिंस्र डर ने/देश को बेखबरी में डस लिया है/संस्कृति की चेतना मुरझा गई है.../सारा राष्ट्र मिरगी ने ग्रस लिया...'

धर्म के नाम पर हुई हिंसा पर अज्ञेय लिखते हैं, 'नहीं है यह धर्म, ये तो पैंतरे हैं उन दरिंदों के/रूढि के नाखून पर मरजाद की मखमल चढ़ाकर/जो विचारों पर झपट्टा मारते हैं। बड़े स्वार्थी की कुटिल चालें...।'

उस हिंसक धर्म को वे बार-बार धिक्कारते हैं 'धिक/पुनःधिक्कार/और यह धिक्कार/हिंदू या मुसलमान नहीं, यह धिक्कार/आक्रोश है अपमानिता/मेरी मनुजता का...।'

अज्ञेय किसी वाद के साथ नहीं जुड़े, न किसी लेखक संगठन के सक्रिय सदस्य बने। अपनी एक अलग राह बनाई। उन्होंने नए प्रयोग किए, पर प्रयोगवादी कहलाना पसंद नहीं किया। उनके शब्दों मे लेखक न जनवादी होता है, न वादी या प्रतिवादी। जो होते हैं, उनका राजनीति से नाता हो सकता है, साहित्य से दूर, बहुत दूर होते हैं।

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि से आए अज्ञेय बहुपठित, चिंतक, एवं अन्वेषी रचनाकार थे। उन्होंने पाश्चात्य दर्शन और साहित्य का अध्ययन भी किया था और भारतीय संस्कृति की गरिमा को भी आत्मसात किया था। बदलते संदर्भों के साथ, वे परंपरा से चली आई विचारधाराओं और काव्य-भाषा-शिल्प में परिवर्तन के पक्षधर रहे। रमेशचंद्रशाह के शब्दों में 'अज्ञेय परंपरा और विद्रोह के कवि एक साथ रहे।' एक ओर नई राहों का अन्वेषण, दूसरी ओर परंपरा से जुड़ाव! 'चाय पीते हुए' कविता में अज्ञेय लिखते हैं 'क्या आपने चाय पीते हुए/पिता को याद किया है/अच्छा नहीं है, पिताओं का याद करना/अपनी कलई खुल जाती है।'

परंपरा से मिले ज्ञान, मूल्यावत्ता, भाषा या अभिव्यक्ति की परिचित शैलियों को उन्होंने कहीं संशोधन कहीं विस्तार और कहीं अस्वीकार कर नई भाषा-शैली और नई नैतिकता का अनुसंधान किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक ओर हमने पाश्चात्य चिंतन एवं वैज्ञानिक सोच को अपनाया, दूसरी ओर आजाद राष्ट्र के निर्माताओं की रीति नीतियों में, आम जन का, स्वतंत्र राष्ट्र में गर्व से सिर ऊंचा कर जीने का स्वप्न पूरा होता न देख, मोहभंग की स्थिति पैदा हो गई। विभाजन के रक्तपात के साथ अहिंसा के पुजारी गांधी की हत्या ने तो दारुण स्थितियां पैदा की। इस नए माहौल में, रचनाकार अपने अनुभवों को, न संस्कृतनिष्ठ छंद-अलंकारों से सजी भाषा में व्यक्त

कर सकता था और न भावुक-गदगद शैली में। अज्ञेय जानते थे पुराने उपमान मैले हो गए हैं, नए शब्दों, नए प्रतीकों का अनुसंधान करके ही रचनाकार अपनी बात आम जन तक पहुंचा सकता है, उनकी रचनाओं में जल, थल, मनुष्य, प्रकृति अपने समस्त सौंदर्य और उदात्तता के साथ उपस्थित है, उनकी अपनी खोजी भाषा और शब्द सामर्थ्य से साथ।

अज्ञेय का सौंदर्य बोध, गहन चिंतन और प्रकृति के प्रति अकूत लगाव उनके काव्य में ही नहीं, उपन्यासों, यात्रा वृत्तांतों में भी बहुतायत से देखा जा सकता है। उनके काव्य में जहां जीवन की अर्थवत्ता की खोज है, वहीं प्रकृति सी जीवंत आत्मा को टोहने वाली अनुराग भरी आंख भी है। 'असाध्य वीणा' की कुछ 'पंक्तियां देखें 'घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना/चौंके खग शावक की चिहुंक/शिलाओं को दुलराते वन झरने के/द्रुत लहरीले जल का कल निनाद.. ./पूरा परिदृश्य आंखों के आगे जी उठता है। प्रकृति जीने और होने के रहस्य ही नहीं समझती, हमें एक विराटभाव से भर भी देती है। तभी तो अज्ञेय कहते हैं, सुनो इस झरने के स्वर को, इसे अपने भीतर भरने दो 'चुपचाप, चुपचाप/झरने का स्वर/ हममें भर जाए/चुपचाप चुपचाप/शरद की चांदनी/झील की लहरों पर तिर जाए/ चुपचाप चुपचाप/जीवन का रहस्य, जो कहा न जाए/ हमारी आंखों में गहराए/चुपचाप चुपचाप/हम पुलकित विराट में डूबे/वह विराट हममें मिल जाए/चुपचाप चुपचाप...'

अज्ञेय ने जीवन में जो जिया, भोगा, उसे लेखन का आधार बनाया। व्यक्ति स्वातंत्र्य के हिमायती वे मनुष्य के दृढ़ संकल्प और उसकी अपरिमेय शक्ति में विश्वास करते थे। उनकी रचनाएं कुछ अकवियों की आत्ममुग्ध अलापों-विलापों का समुच्चय नहीं है। वे मानते थे यदि व्यक्ति स्वयं स्वतंत्र नहीं है तो वह बड़े समाज की स्वतंत्रता की उम्मीद भी कैसे कर सकता है। सृजन को स्वायत्त मानते हुए भी वे उस स्वायत्तता को वास्तविकता या सामाजिकता से विच्छिन्न नहीं मानते। वे जब 'जीवन' की बात करते हैं तो मात्र अपने जीवन की ही गाथा नहीं कहते। 'नदी के द्वीप' उपन्यास में कॉफी हाउस में भुवन रेखा से कहता है 'जीवन की बात जब मैं कहती हूं, तब अपने से बड़े एक संयुक्त, व्यापक, समष्टिगत जीवन की बात सोचता हूं, उसी से एक होना चाहता हूं...।'

नदी के द्वीप उपन्यास को 'क्षणवाद' और 'व्यक्तिवाद' को प्रश्रय देता उपन्यास माना गया। इस उपन्यास में इन मुद्दों पर वैचारिक पड़ताल है, पर वकालत नहीं। नायक भुवन की मुक्ति-संकल्पना, उसका सोच, व्यक्ति की मुक्ति के साथ समष्टि की मुक्ति की कामना है। प्रेम का उदात्त स्वरूप, यहां बांधने में नहीं, प्रेमी को मुक्त करने में है। देना ही यहां पाना है। प्रेम में 'फुलफिलमेंट' के (रेखा के शब्दों में) चरम अहसास के बाद, उसमें लिप्त होना होना नहीं, बल्कि उसे अकेले छोड़ना होता है, अज्ञेय के शब्दों में 'तुम्हारी याद/स्मृतियो के पिंजरे में बांधकर मैंने नहीं रखी/तुम्हारे स्नेह को भरना/कुप्पियों में स्वत्व का/मैंने नहीं चाहा।'

आत्मविसर्जन के बाद ही मुक्ति संभव है। अज्ञेय प्रेम, सौंदर्य, यौवन, आनंद भोग, दर्शन और प्रकृति के तमाम संदर्भों को खंगालकर सत्य का अन्वेषण करते हैं। जीवन का अर्थ जीवन में ही खोजा जा सकता है। मृत्यु से वे भयभीत नहीं होते। पुनर्जन्म के प्रति अनास्था है उन्हें 1952 में लिखी कहानी 'खितीन बाबू' में खितीन बाबू दुर्घटना में अंगहीन होने के बावजूद दुःख

नहीं मानते। उनमें जो जीने की अदम्य आकांक्षा है, ऐसे व्यक्ति मृत्यु के बाद भी जीवित रहते हैं, 'मनुष्य का अटूट संकल्प' मृत्यु को हरा देता है, लेकिन ऐसी भी स्थितियां होती हैं, जहां जीवित होते हुई भी जीने का अर्थ मर जाता है। 'गैंग्रीन' कहानी की नायिका, जिजीविषाहीन, ऊब भरा रुटीन जीवन जीते, सांस भले ले रही हो, जीने की ऊर्जा न होने से उसकी मानसिक मृत्यु तो हो ही चुकी है। अज्ञेय मृत्यु और जीवन के बीच बहुत कम फासला मानते हैं, जीवन जीने की उत्कट अभिलाषा मौत को पराजित करती हैं, फिर मृत्यु से भय क्यों?

लघु से विराट का संधान करने बाले अज्ञेय को मौन का साधक' कहा गया लेकिन उनका मौन बोलता हुआ मौन है, चिंतन की गहराईयों को खंगालता, आत्मानुशासित मौन। अज्ञेय कहते हैं, 'सुना आपने जो, वह मेरा नहीं, न वीणा का था। वह तो सब कुछ की तथता थी। महाशून्य/वह महामौन, अविभाज्य अनाम...,जो शब्दातीत सब में गाता है...।

बहुआयामी व्यक्ति के धनी अज्ञेय एकांतप्रिय भी रहे और सामाजिकता को अनिवार्य भी माना। 'वत्सलनिधि' की स्थापना में लेखक शिविरों का आयोजन और लेखकों संग यात्राएं, उनके व्यक्तित्व के कई पहलुओं से साक्षात कराती हैं, एक ओर रचने के लिए एकांत को जरूरी समझने वाले अज्ञेय, उस रचित को जन से शेयर करने के लिए समाज के पास जाते हैं। कहने को बहुत कुछ है, कुछ कहा, कुछ अनकहा रह गया है। प्रकृति के रहस्य हों, या चिंतन की गहराईयों से पाए अलभ्य मोती-माणिक, उस अभूतपूर्व अनुभव को सुनने के लिए कोई पास न हो, तो कवि का मन उदास हो जाता है। कुछ अनुभव इतने संश्लिष्ट और गझिन होते हैं, कि उन्हें कैसे-कहा जाए, यह कवि के लिए रचनात्मक द्वंद्व एवं संघर्ष का हेतु बन जाता है। अज्ञेय अपना एकांत स्वयं रचते हैं और समाज में जाकर एकांत में पाए अनुभवों को दूसरों से शेयर भी करते हैं। अपना सामर्थ्य, अपनी असमर्थता, अपने विश्वास और अपने प्रतिरोध वे बेलाग भाव से समाज और साहित्य को सौंप देते हैं। विरोध और विरोधाभासों के रचनाकार, मानव-मानव के बीच सेतु भी बनते हैं। पाश्चात्य और भारतीय चिंतन और विवेक के बीच, परंपरा और आधुनिकता के बीच, दर्शन और विज्ञान के बीच, वे एक ऐसे पुल का निर्माण करते हैं जो समय संदर्भों के साथ, समय के पार की वीथियों तक जाने के अन्वेषियों के लिए नए रास्ते खोल देता है। स्वायत्तता के साथ अज्ञेय ने मानवीय विवेक और नैतिकता बोध को प्रश्रय दिया। 'अंतरा' में वे लिखते हैं 'नैतिकता का बोध न होना, लक्ष्य का न होना है, और लक्ष्य रहित समाज का, संस्कृति का नष्ट होना स्वाभाविक है।' जाहिर है, साहित्य की मूल्य परकता में उनका विश्वास रहा, हालांकि मूल्यों को वे स्थाई नहीं मानते परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरते समय में मूल्यों में बदलाव जरूरी है। उनकी चिंतन धारा ही नहीं, उनका जीवन भी परिवर्तन की कई वीथियों से गुजरता रहा।

कुशीनगर में जन्मे अज्ञेय, पुरातत्व विभाग में कार्यरत पिता की संतान थे। बचपन से ही, एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में आवाजाही करते वे कभी कश्मीर की सुरम्य वादी में रहे, कभी लखनऊ, मद्रास, कलकत्ता। यायावरी उनके खाते में दर्ज थी। जीवन यात्रा भी कहां समतल रही? कभी भगत सिंह के क्रांति दल के सदस्य रहे, तो कभी फौज में भर्ती हुए, कभी कश्मीरी शाल व्यापारी, तो कभी देख-विदेश में विजिटिंग प्रोफेसर रहे। जेल यात्रा से लेकर देख-विदेश की यात्राएं की। कभी कृष्णा की लीलाभूमि वृंदावन में घूमे, कभी मानसरोवर की मनोहारी झील के तट पर

टहले। यात्राएं उन्हें प्रिय थीं। 'एक बूंद सहसा उछली' में उनकी यात्राओं का विशद व अंतरंग वर्णन है। इटली की यात्रा भी है वहां, जय जानकी यात्रा, भागवत भूमि की यात्रा भी यात्राएं उनके लिए महत्वपूर्ण थी, क्योंकि वे किसी स्थान का इतिहास भूगोल मात्र समझने का साधन नहीं, उस स्थान विशेष की संस्कृति-वहां के प्राकृतिक सौंदर्य और सभ्यता-चेतना से परिचित होने का जरिया भी होती हैं। अज्ञेय ने रोम, इटली, जर्मनी, फ्रांस स्विटजरलैंड आदि पाश्चात्य देशों, योरोपीय देशों की भी यात्राएं की। वहां ऊंची इमारतों से इतना प्रभावित नहीं हुए जितने पुरातत्व एवं कलात्मक वैभव से! अज्ञेय के यात्रावृत्त उनके देखे, भोगे अनुभवों की सौगातें हैं। जहां-जहां गए, वहां की संस्कृति, भाषा, इतिहास, साहित्य, प्रकृति-सौंदर्य उनके अनुभव संसार के संगी बन गए। पुरावस्तुओं के वैभव और कला परंपरा से वे खासे प्रभावित रहे। भारत में 'जय जानकी यात्रा', 'भागवत भूमि यात्रा' उनकी, 'भारतीय सांस्कृतिक मनीषा की चेतना यात्राएं हैं।' वहां सांस्कृतिक गरिमा, मानवीय उदात्तता के विरल उदाहरण भी पाए, और ध्वंस और विनाश की पीड़ा भी महसूस की है। पिंड़ारा यात्रा का वर्णन करते, अज्ञेय, उस मृतप्राय प्रदेश में, एक नीरंध्र शून्य महसूस करते हैं और, 'कुछ नहीं में महाभारत की व्यथा भी। पिंडारा में ही श्रीकृष्ण ने युद्ध के बाद, पांडवों की मृत संतानों का पिंडदान किया था। श्रेष्ठ ऋषियों को यहां भेजा था कि द्वारिका के आसन्न संकट से वे बच जाए। यहीं पर यादव कुल के कुछ युवकों को, उनके 'कुलनाश' होने का शाप भी मिला था, जब उन्होंने ऋषियों को अपमानित किया था। 'केशव कृपा' की परित्यक्त सी कोठरी के पास खड़े अज्ञेय जैसे महाभारत की युद्धभूमि में खड़े हैं। उस युद्धोत्तर भूमि पर वे 'लहू का कीच' महसूस करते हैं।

महाभारत काल में जाकर, पाठक, अज्ञेय के साथ यात्रा करता वर्तमान में जब लौटता है, तो यह कालयात्रा मन जेहन पर अमिट छाप छोड़ जाती है। अज्ञेय ने पिंडारा यात्रा का वर्णन जिस चित्रात्मक भाषा-शैली और संवेदनात्मक घनत्व से किया है, उससे यह संस्कृति यात्रा न सिर्फ हवस और विनाश का मार्मिक आख्यान रचती है, बल्कि युद्ध और संहार के भयावह परिणामों की ओर इंगित कर मानव समाज को चेताती भी है। अज्ञेय की यात्राएं सचमुच 'विराट में विचरण' हैं। वहां चेतना का विस्तार करती सौंदर्य चेतना भी है, मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने का संकल्प भी और विगत, वर्तमान और भविष्य को जोड़ने-चेताने वाली विचार सरणियां भी हैं। अज्ञेय को 'कितनी नावों में कितनी बार' पुस्तक पर ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला, उस धन से उन्होंने 'वत्सलनिधि' की स्थापना की। इसके तहत कई कार्यक्रम नियोजित किए गए, जिनमें लेखक शिविर, व्याख्यानमालाएं और यात्राओं की योजनाएं बनी। स्थापित रचनाकारों के साथ इन शिविरों में नए लेखकों को भी आमंत्रित किया गया। इनमें साहित्यिक चर्चाएं विचार-विमर्श, काव्य पाठ होता रहा। एकांतप्रिय और निजता का आदर करने वाले, असाधारण प्रतिभा के धनी, अज्ञेय को 'अहंवादी' व्यक्तिवादी आदि कहने वाले बुद्धिजीवी, पता नहीं उनके इन आयोजनों के बारे में क्या कहेंगे, जहां पर छोटे-बड़े साहित्यकारों से अज्ञेय साहित्य चर्चा करते थे। 1987 में अज्ञेय नहीं रहे, लेकिन लेखक शिविर सक्रिय रहे। विद्यानिवास मिश्र काफी समय तक इनका आयोजन कार्य संभालते रहे। उनके देहांत से वर्ष भर पहले, कुशीनगर (अज्ञेय के जन्मस्थान) में 'वत्सलनिधि' का लेखक शिविर लगा, जिसमें मैं भी आमंत्रित थी। वहां निर्मल वर्मा, अशोक वाजपेयी, सुनीता

जैन आदि वरिष्ठ लेखकों के साथ तब बिल्कुल नए लेखक (कवि) यतींद्र मिश्र भी शामिल हुए थे। नेहरू के समय बने भवन के परिसर में एक दिन कवि गोष्ठी और गद्य साहित्य पर चर्चा हुई। वहां भवन के अहाते से थोड़ी दूर एक भव्य नदी (चौड़े पाट वाली), मस्ती से लहराती इठलाती बह रही थी। मालूम पड़ा इस नदी में कई नदियां मिलकर बहती हैं 'गंडकी' नदी भी, जो पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की सीमा बनाती, कुशीनगर के निकट बहती है। विद्यानिवास मिश्र से नदी संबंधी कई जानकारियां मिलीं। क्या यही वैदिककालीन नदी 'सदानीरा' थी, जो कभी सूखती नहीं, जिसे आज 'गंडकी' के नाम से जाना जाता है? भारत-नेपाल सीमा के पास बसे कुशीनगर के पास पुरातत्व संबंधी कुछ भग्नावशेष हैं, इधर वनवासी सीता की रसोई, उधर यज्ञ कुंड...! क्षीण सी पानी की धारा वन-प्रांतर के बीच बहती हुई, क्या यहां रामायण काल में कोई बड़ी नदी रही होगी, जहां सीता, (वनवास के दौरान) पानी लाने जाती थी?

वहां अज्ञेय के व्यक्तित्व और कृतित्व में रमें हम बार-बार उनके लेखकों से संवाद, उनके साहित्य-सृजन संबंधी अवधारणाओं और काव्य प्रयोगों पर बात करते उनके उदार व्यक्तित्व से परिचित हुए। विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा आदि का उनसे घनिष्ठ संबंध भी रहा था। यह भी मालूम हुआ कि अज्ञेय पर मुक्तिबोध का विरोधी होने का आरोप निराधार था। अज्ञेय ने मुक्तिबोध को तारसप्तक' में छापा ही नहीं, उन्हें मान भी दिया। अंतिम दिनों में मुक्तिबोध की अस्वस्थता में उनकी सहायता भी की।

अज्ञेय का व्यक्तित्व सचमुच 'अज्ञेय' था, भले ही उनके यह नाम जैनेंद्र का दिया हुआ था। जब जेल में उन्होंने एक राजनैतिक कहानी लिखी और जैनेंद्र के हाथों वह प्रेमचंद को भेजी गई, तब लेखक का नाम गुप्त रखने के लिए जैनेंद्रजी ने वात्स्यायनजी की कहानी पर उनका नाम 'अज्ञेय' लिख दिया। 'अज्ञेय' के मित्र यह भी कहते हैं कि उन्हें वात्स्यायन नाम ज्यादा पसंद था। जो भी हो, वह इसी नाम से जाने गए, शायद इसलिए कि उस जैसे विवादों से घिरे, स्वतंत्रचेता रचनाकार को जानना आसान भी नहीं था। तमाम वैचारिक वैभिन्य के बावजूद अज्ञेय मुक्तिबोध, त्रिलोचन, शमशेर बहादुर सिंह के मित्र रहे। कई वामपंथी समीक्षक-लेखकों ने भी उनके साहित्य की उत्कृष्टता को स्वीकार किया। नामवर सिंह ने 'शेखर एक जीवनी', उपन्यास को, हिंदी के पांच उत्कृष्ट उपन्यासों में एक बताया।

यह भी सच है कि कईयों ने अज्ञेय के इस उपन्यास को 'व्यक्तिवादी' कहकर नजरअंदाज करना चाहा। आरोपों से अज्ञेय जरूर दुःखी हो जाते होंगे, लेकिन ज्यादातर वे चुप ही रहते थे। 'समय सूर्य' संस्मरण में रामधारी सिंह दिनकर का स्मरण करते हुए, अज्ञेय ने लिखा है, एक बार दिनकर ने अज्ञेय से पूछा 'तुम्हारा कसकर विरोध हो रहा है, पर तुम पर जैसे किसी बात का कोई असर नहीं। तुम अपने रास्ते चले जा रहे हो। वह क्या चीज है, कहां से तुम्हें बल मिलता है? ईश्वर से या श्रद्धा से? कुछ जप-वप करते हो क्या?'

अज्ञेय ने उत्तर में कहा, 'आपके सवाल का जवाब मैं नहीं जानता लेकिन जीवन मेरे लिए हमेशा एक अचरज भरी चीज रहा है। उसमें से निकलने वाली कुछ कर्म-प्रेरणा, जिसके मारे कभी फुरसत ही नहीं मिली कि कोई व्यसन पालूं। जीने से इतनी भी फुरसत न मिली कि कोई एंबिशन भी पालूं। समझ लीजिए कि मुझे काम से इतनी भी फुरसत नहीं कि दुर्बलता के आगे झुक सकूं...।'

चुप रहकर भी अपनी बात वह अगले तक पहुंचाते ही थे।

अपने एक वक्तव्य में अज्ञेय ने 'शेखर एक जीवनी' के बारे में इतना जरूर लिखा कि, 'निःसंदेह शेखर एक व्यक्ति का अभिन्नतम, निजी दस्तावेज है उसकी पर्सनल सफरिंग। तथापि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिंब भी है। इतना और ऐसा निजी वह नहीं है कि उसके दावे को आप एक आदमी की निजी बात कह कर उड़ा सकें।'

अज्ञेय जानते थे और मानते भी थे कि अंततः विवेकशील पाठक ही साहित्य का मूल्यांकन करता है। आज अज्ञेय को हम नए सिरे से जानने का प्रयास करते हैं। 'शेखर' का निज से बड़े समाज-देश की ओर उन्मुख हो, अपने चिंतन में देशकालातीत होना; 'अपने-अपने अजनबी', उपन्यास में जीवन और मृत्यु के बीच, जीवन की संभावनाओं का अन्वेषण, 'सेल्मा' जैसी साधन संपन्न, एक हद तक स्वार्थी व्यक्ति की आत्मा का परिष्कार होना, इतना कि वह अपना जोड़ा-बटोरा सब 'यान' की मानवीयता के आगे समर्पित कर मुक्त हो जाती है। देकर मुक्त होना, यह मुक्ति कामना अज्ञेय की कविताओं, उपन्यासों में पाई जाती है। यह मुक्ति मानव की क्षुद्रताओं से, अपराध बोध से, बंधनों से, अहंकार से मुक्ति है। अज्ञेय कविता को अहं के विलयन का साधन मानते हैं। अज्ञेय के काव्य में सूक्ष्म और विराट का द्वंद्व है, अपने को खोकर पाने की कोशिश है, किसी विराट की खोज है। वे कहते भी हैं 'सबसे अधिक मैं/वन के सन्नाटे के साथ मौन हूं/क्योंकि वही बताता है, कि मैं कौन हूं/जोड़ता है मुझको विराट से/जो मौन, अपरिवर्तित है, अपौरुषेय है/जो सबको समोता है.../ (चक्रांत शिला, आंगन के पार द्वार में)। कई वर्ष पहले जब मैंने कैलिफोर्निया में, बर्केले विश्वविद्यालय के परिसर में, वह एकांत सा घर देखा, जिसमें, एक विजिटिंग प्रोफेसर के नाते, अज्ञेय कुछ समय रहे तो वहां के शांत, वातावरण में, मकान के पास बहती छोटी सी नदी का कल-कल निनाद सुना। लंबे ओक-पाइन के साए में नन्हें पक्षियों की पुकारें जैसे उस सन्नाटे में प्रतिध्वनित होती रहीं, मुझे अज्ञेय का प्रकृति के अनुपम सौंदर्य को रगों में उतारते, मौन हो जाने का रहस्य समझ में आया। यह प्रकृति का मौन भी तो हमें हमारे भीतर झांकने, खुद को पहचानने के लिए उकसाता है, जोड़ता है विराट से स्वाधीनता को चरम मूल्य मानने वाले अज्ञेय, मनुष्य के मन को विरल सौंदर्य चेतना से आपूरित कर, उसमें विश्वबंधुत्व का विराट भाव भर देते हैं। वे मानते हैं कि साहित्य व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना का उन्नयन कर सकता है और यदि व्यक्ति उन्नत होगा, तो सामजिक जीवन को भी प्रभावित कर सकता है। उनके कहे, साहित्य आत्माभिव्यक्ति के साथ, एक सांस्कृतिक दायित्वपूर्ण कर्म है, 'यदि अनुभूति के प्रति लेखक की आलोचक बुद्धि जागृत है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और युयुत्सा की भावनाएं जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर, नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है, तभी उसकी रचनाएं महान साहित्य बन सकेंगी।'

अज्ञेय का रचना संसार उनके वक्तव्यों और चिंतन का जीवंत साक्ष्य है। उन्हें कई रूढ़ परंपराओं को तोड़कर, नए चिंतन की नींव रखी। अपने युग के साहित्य नायक रहे अज्ञेय के साहित्य में जीवन के चरम का आनंद है, दुःख का उदात्तीकरण है, बंधन भी वहां मुक्ति का कारक बनता है, वे लघु में विराट का संधान करते हैं। वे मनुष्य के हर सुख-दुख, संवेग, राग-विराग

और संघर्ष के साथ अभिन्न हैं। 'नंगे बदन, दम साध पानी में उतर, बाजार के लिए पानीदार मोती निकालने वाले, कदम घिसते चाकरी करने वाले की 'व्यथा' भी वे ही हैं। एक रचनाकार के नाते उन्होंने क्या नहीं किया लेकिन जो भी किया, उसमें वह सब शामिल था, जो वे कहना चाहते थे?

'निर्विकार मरु तक को सींचा है, तो क्या?/नदी नाले ताल कुएं से पानी उलीचा है, तो क्या?/उड़ा हूं, दौड़ा हूं, तैरा हूं, पारंगत हूं/ इसी अहंकार के मारे/अंधकार में, सागर के किनारे/ठिठक गया हूं, नत हूं/ उस विशाल में मुझसे/बहा नहीं गया/ इसीलिए जो और रहा/वह कहा नहीं गया'

अज्ञेय रचनाकार की दौड़, उसके संघर्ष और सीमा का एक साथ बोध करा देते हैं। शब्दातीत को भी शब्द-भाषा में व्यक्त करने की चुनौती स्वीकारने वाले अज्ञेय यह भी मानते हैं कि बहुत कुछ कहने के बाद भी काफी कुछ रह जाता है, जो कहा नहीं जाता। 'बावरा अहेरी' संग्रह में संकलित, 'जो कहा नहीं गया', कविता में वे लिखते हैं 'शब्द यह सही है, सब व्यर्थ है/पर इसलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ है/ शायद केवल इतनी ही जो दर्द/वह बड़ा है, मुझ ही से/सहा नहीं गया/तभी तो, जो अभी और रहा, वह/कहा नहीं गया।'

अज्ञेय मनुष्य से प्रेम करते थे, उसके आत्मविकास, उसकी संकल्पशक्ति और सामर्थ्य पर उन्हें भरोसा था। तभी वे कहते हैं 'हममें यह क्षमता है/कि अपनी व्यथा और अपने संघर्ष में/अपने को जनते चलें/अपने संसार को अनुक्षण बदलते चलें...अपनी नई नीति बनातें चलें...।'

अज्ञेय ने अपनी क्षमता दिखाई, विरोधी माहौल में भी अपने पर विश्वास बरकरार रखा। जनवरी 1987 में, पूर्वग्रह के एक अंक में उनके भाषण के कुछ अंश छपे, जहां उन्होंने, बिना आत्मश्लाघा एक बेलाग बात कही। उनके शब्दों में ऐसी दृढ़ता है कि घोर अविश्वासी भी उनके आगे झुक जाए। अज्ञेय के शब्द हैं 'घोषित व्यक्तिवादी, समाजद्रोही...सब हूं। मैं दूसरों से आंख मिलाकर बात कर सकता हूं, इसलिए कि मैं नहीं पाता कि मेरा कोई समाज नहीं है। लेकिन ऐसे भी लोग हैं जिनको समाज की चिंता है, ऐसे भी लोग हैं, जो अपने को समाजवादी जनवादी भी कहते हैं, लेकिन जो दूसरो से आंख मिलाकर बात करने को तैयार नहीं...।'

भला विरोधियों को ध्वस्त करने के लिए, ऐसा अहिंसक वार कौन कर सकता है?

'सदानीरा' काव्य संकलन की भूमिका में अज्ञेय, मानव जीवन और मानीवय सभ्यता में साहित्य की अनिवार्य भूमिका पर हस्ताक्षर करते नजर आते हैं। अपने अनुभवों में पाठक को शामिल करते वे लिखते हैं, 'मैंने पचास वर्ष में यह सीखा है कि मानव जीवन और मानवीय सभ्यता में काव्य का एक स्थान है और बना रहेगा।'

आज के इस घोर भौतिकवादी समय में अज्ञेय के शब्द एक बार उम्मीद तो जगाते ही हैं कि मनुष्य और मानवीय सभ्यता बचेगी, तो साहित्य में उसकी जगह भी बची रहेगी!!!

❐❐

बात ईमान की तो बिगाड़ का डर कैसा?

रणजीत साहा

बहुत पहले 'वर्ड्स एंड जेस्चर्स' के झंडे तले 'मंटो-इस्मत हाजिर हैं' कार्यक्रम के अंतर्गत नसीरुद्दीन शाह ने मंटो और इस्मत की दो-दो चर्चित कहानियों को रंगमंच पर पेश किया था। साहित्य अकादेमी के स्वर्ण जयंती वर्ष में इसे 13 अक्टूबर 2004 में श्रीराम सेंटर, नई दिल्ली में खेला गया था। मंटो की कहानियां थीं 'बू' और 'टिटवाल का कुत्ता' और इस्मत चुगताई की कहानियां थीं 'लिहाफ' और 'अनब्याहताओं के नाम'।

मंच-प्रस्तुति के समय भी मंटो की कहानियों का प्रभाव ऐसा जबरदस्त था कि प्रेक्षकों को जैसे सांप सूंघ गया था और कहानी में वर्णित जो घटनाएं अपनी ऐंद्रिक सघनता के कारण शब्दातीत हो जाती हैं उसका अहसास निर्देशन, कथाकथन और अभिनय ने करा दिया था।

'बू' जैसी एक मनोवैज्ञानिक कहानी को पेश करते हुए निर्देशक ने उस सचाई को जाहिर करना चाहा था जो अपनी बीवी के जिस्म से उठती हिना के इत्रा की मरती खुशबू में ढूंढ़ रहा है। एक अनाम-सी बू, वह भी एक घाटन की देह में। औरत और मर्द के इन अंतरंग क्षणों को केवल छपे हुए पन्ने पर या मंच पर अभिनीत पात्रों की सांकेतिक देहभाषा द्वारा एक सीमा तक ही कोई महसूस कर सकता है। दरअसल इस कहानी को किसी एक या किसी एक के नजरिए से नहीं देखा जा सकता। क्योंकि इस कहानी का चरम बिंदु अपने आप में एक नहीं, कई पहलुओं को समेटे हुए है। यह एक ओर सघन ऐंद्रिक कार्य व्यवहार से संबद्ध था तो दूसरी ओर देहातीत अनुभव की तलाश से जुड़ा था। जिसे अतीन्द्रिय भी कहा जा सकता है। यह बू पीपल के बारिश से भीगे पत्ते की मौजूदगी में एक घाटन युवती की मैली-कुचैली देह से आई थी। एक खास किस्म की 'बू', जिसे कहानीकार ने कोई शब्द नहीं दिया है। सिर्फ आवाजों में बांधने की कोशिश भर की है।

अगली प्रस्तुति थी। हिंदुस्तान और पाकिस्तान की सरहद पर डोलता 'टिटवाल का कुत्ता'। यह चौपाया जहां हिंदुस्तानी फौजियों के लिए 'चपड़ झुनझुन' था, वहां पाकिस्तानी फौजियों के लिए 'सपड़ सुनसुन'। दोनों तरफ की उटपटांग गालियां ही वह नहीं खाता, दोनों तरफ की गोलियां भी खाता है। कहानी के अंत में जमादार हरनाम सिंह बंदूक की गर्म-गर्म नली अपने हाथ में लेकर कहता है 'वही मौत मरा, जो कुत्ते की होती है।'

उस रंगमंचीय उत्तेजना का साक्षी होने के आठ साल बाद आज जब मंटो की जन्मशती

मनाई जा रही है तब उस अनुभव को दोबारा ताजा करना और मंटो की रचनाओं से साझा करना और भी रोमांचक हो जाता है। मंटो का लेखन एक तरफ अपनी चीख में जहां सारी दुनिया को हिला देता है, वहां दूसरी तरफ अपनी खामोशी में भी हमारे वजूद को बुरी तरह झकझोर देता है। यह लगभग नामुमकिन है कि आप मंटो को पढ़ें और पत्थर बने रहें। और अगर पत्थर बने रहने का नाटक करते भी रहें तो उनकी तेजाबी कलम का प्रवाह आपको बहाकर ले जाएगा।

11 मई, 1912 ई. में जन्मे उर्दू जुबान के या भारतीय भाषाओं के नहीं, भारतीय उपमहाद्वीप के महान कथाकार सआदत हसन मंटो का जन्म समराला, जिला लुधियाना में हुआ। अपनी मां-बाप की वह अंतिम संतान थे। यह एक खाता-पीता और खुशहाल परिवार था। मंटो के तीन बड़े भाई, जो उम्र में उनसे बड़े थे, विलायत में तालीम पा रहे थे लेकिन उन सौतेले भाइयों से उनकी कभी मुलाकात नहीं हो पाई। मंटो की पढ़ाई अमृतसर और लखनऊ में हुई। भारत के चार मशहूर शहरों अमृतसर, लाहौर, दिल्ली और मुंबई से वे जुड़े रहे। कई सालों तक आल इंडिया रेडियो की सेवा से भी जुड़े रहे। देश के बंटवारे के बाद वे पाकिस्तान चले गए और वहीं, 18 जनवरी 1955 ई. में, सिर्फ तैतालिस साल की उम्र में उनका निधन हो गया।

उर्दू कथा-साहित्य में प्रेमचंद (1880-1936) के निधन बाद प्रगतिशील उर्दू-हिंदी कथाकारों की कथा-परंपरा लंबे समय तक जारी रही। 1936 में लंदन में स्थापित प्रगतिशील लेखक संघ (तरक्कीपसंद अदीब/तहरीक) और फिर भारत में इस आंदोलन और लखनऊ में इसके पहले अधिवेशन में, यथार्थ और सामाजिक यथार्थ को अपना उद्देश्य या मिशन बनाकर उर्दू अदब में जिन कथाकारों ने अपनी ऐतिहासिक और रचनात्मक भूमिका अदा की, उनमें सबसे पहला नाम सआदत हसन मंटो का है। उनके दूसरे साथी कथाकार लेखक, संपादक और पत्रकार थे कृशन चंदर, राजिंदर सिंह बेदी, इस्मत चुगताई, उपेंद्रनाथ अश्क, ख्वाजा अहमद अब्बास, अहमद नदीम कासिमी, गुलाम अब्बास वगैरह, जो उस प्रगतिवादी खेमे के मजबूत कंधे थे। इन सबकी उपस्थिति से उर्दू अदब का वह दौर शायद सबसे अहम दौर रहा।

मंटो को कहानीकार बनाने में जलियांवाला बाग को वह अमानवीय और बर्बर गोलीकांड का भी हाथ है, जिसके विरोध में युवा मंटो ने 'तमाशा' नाम से अपनी पहली कहानी लिखी थी। यह उसके नाम से न छपकर किसी और नाम से छपी ताकि अंग्रेज सरकार उसे गिरफ्तार न कर ले। 'खल्क' नामक रिसाले (पत्रिका) में प्रकाशित इस कहानी में खालिद नाम के एक छोटे से बच्चे के जेहन में यह बात नहीं उतरती कि आसमान में उड़ने वाले हवाई जहाज पर्चे लहराकर लोगों को आतंकित क्यों कर रहे हैं? खालिद की नजरों के सामने एक घायल युवक, जिसकी पिंडली में गोली लगी थी, दर्द से कराह रहा था। लेकिन न तो उसके वालिद और न आसपास के लोगों को उसकी फिक्र थी। घरों के दरवाजे लोगों ने बंद कर लिए थे। दरअसल तब देश की आजादी का मंजर न केवल शासक वर्ग के लिए बल्कि गुलाम मानसिकता वाले शहरी लोगों के लिए महज एक तमाशा था, इससे ज्यादा कुछ नहीं। इन तमाशों को मंटो ने बाद में 'चाचा सैम के नाम खत' और 'पंडित नेहरू के नाम खत' में व्यंग्य भरे अंदाज में प्रस्तुत किया था, जो बेहद रोचक हैं और ऐसी कई जानकारियों से भरे हैं कि हैरत होती है आखिर वे कितनी चीजें पढ़ते रहे होंगे और साहस जुटाकर लिखते होंगे। कोई बुरा माने तो माने। यहां प्रेमचन्द

की कहानी 'पंच परमेश्वर' की खाला जान का वह संवाद बेसाख़्ता याद आ जाता है कि 'क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात नहीं कहोगे?'

मंटो की आरंभिक कहानियां इसी मिजाज और अंदाज में ढली हैं। मसलन, 'सन 1919 की बात' और 'आजादी के लिए' कहानियों में अंग्रेजों के सैनिक शासन के दौरान घटी घटनाओं का जहां प्रामाणिक विवरण है वहां पात्रों की मानसिकता का भी प्रभावी चित्रण है। लेकिन बहुत जल्द मंटो का ध्यान उन उपेक्षित समाजों और उन तिरस्कृत इंसानों की ओर गया, जिन्हें खुद इंसान ने बनाया था और जिनके साथ सदियों पुराना इतिहास भद्दा मजाक कर रहा था। भूख, गरीबी, तंगहाली, दरिंदगी, जलालत, बदहाली, तंगनजरी और ऐसी ही तमाम बुराइयां और कुरीतियां। उनकी कहानियां आज भी बार-बार हमसे पूछती हैं कि आखिर हमने अपना यह क्या हाल बना रखा है? और फिर उनकी इस बदहाली के लिए जिम्मेदार उन पात्रों और किरदारों की पहचान की गई, जो यह बताते हैं कि वे तो हमारे आसपास ही हैं, एकदम पास और सामने लेकिन हमारे साथ नहीं। और वे कहां नहीं है गली में, कूचे में, पड़ोस में, बाजार में, सरकारी महकमों और इदारों में, अखबारों में, हादसों में, घर में और देहमंडी में हर जगह। इन पात्रों की तकलीफ और आवाज में, उनकी चुप्पी और चीख में मंटो ने अपनी आवाज मिला दी। इसलिए 'आजादी के लिए' कहानी में उन्होंने महात्मा गांधी के आंदोलन के बरक्स खुदा और कौम की इबादत के साथ मानवीय प्रेम, प्राकृतिक सौंदर्य और इंसानी भाईचारे और भावनाओं को भी तरजीह दी। तभी एक तांगा चलानेवाले मंगू कोचवान के माध्यम से 'नया कानून' कहानी में उन्होंने यह बताया वह देश की आजादी में किन्हीं सपनों के साथ अकेले नहीं, बल्कि सबके साथ शामिल हैं। सोवियत रूस में परिवर्तन की हवा का उल्लेख कर मंटो ने यहां अपनी प्रगतिशीलता का संकेत भी दिया है। लेकिन उनकी तेजाबी कलम इस सवाल को बार-बार और लगातार दोहराती रही कि क्या अमली तौर पर पुलिसिया जुल्म का और आतंक का ही दूसरा नाम कानून है। उसे पुराना बताया जाए या सुविधा के लिए नया।

वर्ष 1936 में मंटो का पहला कहानी संग्रह *आतिश पारे* प्रकाशित हुआ। इसके बाद *धुआं* (1940), *जनाजे* (1942), *लज्जते-संग* (1947), *सियाह हाशिये* (1948), *चुगद* (1948), *खाली बोतलें, खाली डिब्बे* (1950), *यजीद* (1951), *ऊपर नीचे दरम्यान* (1954), *शैतान* (1954), *बगैर इजाजत* (1955), *बुरके* (1955) शीर्षक कहानी संग्रह उनकी रचनात्मक ऊर्जा के गवाह हैं। इनके साथ ही, एक नाटककार के नाते भी अपने पाठकों में बहुत लोकप्रिय रहे। *तीन औरतें* (1942) ये उनके कई रेडियो नाटक उनकी कहानियों के संग्रह में शुमार हैं। उनका निबंध संग्रह *मंटो के मजामीन* और रेखाचित्र *गंजे फरिश्ते* (1933) और एक उपन्यास *बगैर उनवान के* (1940) भी बेहद पठनीय हैं। *तल्ख, तुर्श और शीरीं* उनके व्यंग्यपूर्ण लेखों का संग्रह है।

मंटो अपनी कहानियों में विन्यस्त मानवीय संवेदना और हमारी सामाजिक संरचना के बीच खड़ी एक अदृश्य और अभेद्य दीवार को बार-बार ढहाने की भरपूर कोशिश करते हैं। वे उन घिनौनी कोशिशों को भी कठघरे में खड़ा करते हैं जिनके किरदार नादीद हैं या फिर जो पेशेवर नकाबपोशों द्वारा की जा रही हैं। यही वजह है कि उनके कई किरदारों के कई-कई चेहरे और मुखौटे हैं और वे एक ही जुबान से कई तरह बातें करते हैं। 'डरपोक' शीर्षक कहानी में अपनी

उधेड़बुन का मारा जावेद यही दोहराता रहता है कि आदमी सही वक्त पर कोई फैसला क्यों नहीं ले पाता? इसी तरह 'खुशिया' का खुशिया अपनी मर्दानगी को साबित करने के लिए कई नुस्खे आजमाता है लेकिन वह जिन कस्बियों या जिस्मफरोश औरतों के बीच रहता है, वे उसे भाव ही नहीं देतीं। कहानी के अंत में, कांता नाम की बाजारू औरत के साथ उसने जुहू पहुंचकर क्या किया होगा, यह भी बहुत साफ नहीं हो पाता। लेकिन दूसरी तरफ बाबू गोपीनाथ की पात्रता में, ऐसा लगता है कि मंटो की शख्सियत का भी कोई अक्स मौजूद है 'रंडी का कोठा और पीर का मजा। यही दो जगहें हैं जहां मेरे दिल को तस्कीन मिलती है और दोनों जगहों पर फर्श से लेकर अर्श तक, धोखा ही धोखा होता है। जो आदमी खुद को धोखा देना चाहे उसके लिए इससे अच्छी जगह और क्या हो सकती है?''

मंटो की कहानियों को मोटे तौर पर तीन धाराओं में बांटा जा सकता है। पहले खाने में वे कहानियां आती हैं जो खुद लेखक और उसके सोच के अनुरूप गढ़े गए पात्रों से संबंधित हैं। जाहिर है, इनमें लेखक सामाजिक सच्चाइयों को अपने नजरिये से, अपने सोच, सरोकार और सामाजिक सच्चाई के आईने और विचारों की रोशनी में देखता है और सबसे बढ़कर अपने अनुभवों की छलनी से छानकर सामने लाता है। इनमें 'मम्मी', 'एक खत', 'सड़क के किनारे', 'तरक्की पसंद', 'शहीद साज' जैसी कहानियां शामिल की जा सकती हैं।

दूसरे खाने में वे कहानियां आती हैं जो भारत विभाजन और हिंदू मुस्लिम के आपसी टकराव या संबंधों में खिंची तलवार के जुड़ी मानवीय त्रासदी से जुड़ी है। दरअसल ये कहानियां उस खौफ, अविश्वास, बलात्कार, आगजनी और कत्लो-गारत को बयान करती हैं जो देश के बंटवारे के चलते हुई थी। ये हमारे सामने ऐसी-ऐसी विभीषिका और विसंगतियां लिए खड़ी हो जाती हैं, जिनसे न तो आंख चुराना मुश्किल है और न आंख मिलाना। विभाजन की उस त्रासदी के साठ साल बीत जाने पर भी सरहद के दोनों पार से उठनेवाली हवा में अभी भी जहरीली मक्खियां भिनभिना रही हैं।

मंटो ने इस विभाजन की त्रासदी को जैसे सीने पर झेला था, जब भारत के बंटवारे से जुड़े अप्रिय लेकिन आवश्यक सवाल ने आग की तरह फैलकर, पूर्वी, उत्तरी और पश्चिमी भारत-पंजाब से लेकर सुदूर असम तक सब कुछ अपने आगोश में ले लिया था और आज साठ-पैंसठ साल बाद भी, हम उसके जहरीले धुएं से बाहर नहीं आ सके हैं। मंटो की 'यजीद', 'टिटवाल का कुत्ता', 'शरीफन', 'खुदा की कसम', 'सहाय', 'सियाह हाशिये', 'ठंडा गोश्त', 'खोल दो', 'नंगी आवाजें' और 'टोबा टेकसिंह' जैसी चर्चित कहानियां उसी घिनौने और स्याह दौर की कहानियां हैं। 'टोबा टेकसिंह' उर्फ बिशन सिंह उस काले इतिहास का शिकार है। यह पागल सिख पिछले पंद्रह साल से सोया नहीं है। उसके पांव सूज जाते हैं और चेहरा बिगड़कर डरावना हो गया है। वह अंडबंड बकता रहता है और हर किसी से पूछता रहता है, टोबा टेकसिंह कहां है हिंदुस्तान में या पाकिस्तान में?

लेखक लिखता है कि इसी एक सवाल के साथ वह एक दिन एक चीख के साथ जमीन पर गिर पड़ता है। 'इधर कांटेदार तारों के पीछे हिंदुस्तान था। उधर वैसे कांटेदार तारों के पीछे पाकिस्तान। बीच में जमीन के उस टुकड़े पर, जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेकसिंह पड़ा

था।' इन पंक्तियों के साथ कहानी तो खत्म हो जाती है लेकिन तत्कालीन जिद्दी राजनेताओं और बहरे शासकों द्वारा जबरदस्ती थोपा गया बंटवारा आज भी दो कौमों के बीच जो जलता हुआ लावा और जलजला छोड़ गया है, वह और कुछ नहीं, जमीनी सुनामी ही है। भारत-पाकिस्तान विभाजन के दौरान दंगे की पृष्ठभूमि में ही लिखित 'यजीद' कहानी में हिंदुस्तान के हुक्मरानों द्वारा किसी दरिया का पानी बंद करने का हवाला है ताकि सरहद पार पाकिस्तानी लोगों तक पानी ही नहीं पहुंचे। इस बात का जिक्र 'नेहरू के नाम खत' में भी मंटो ने किया था। 'मुझे यह सुनकर हैरत हुई कि आप हमारा दरिया बंद कर रहे हैं।' शायद इसी की पृष्ठभूमि में 'यजीद' कहानी लिखी गई, जिसके उनवान (शीर्षक) को लेकर भी खासी चर्चा हुई कि करीमदाद नाम का कोई मुसलमान बाप अपने बेटे का नाम यजीद कैसे रख सकता है, जो कि इस्लामी तारीख में एक बेहद क्रूर शासक माना जाता है। दरअसल यजीद ने खिलाफत के बहाने कर्बला (इराक) के मैदान में तीन दिन तक फरात नदी का पानी बंद कर दिया था ताकि मुहम्मद साहब के नाती हजरत हुसैन इमाम को इस बात पर मजबूर किया जा सके कि वे यजीद को खलीफा मान लें। अमूमन गालियों का इस्तेमाल करनेवाला करीमदाद यह मानकर चलता है कि 'उस यजीद ने दरिया का पानी बंद किया था... यह खोलेगा।'

मंटो लिखित तीसरे खाने में वे कहानियां आती हैं जो मानवीय संबंधों की और स्थितियों की विचित्रता, विडंबना और विकृति से जुड़ी हैं। निस्संदेह इन कहानियों में सनसनीखेज, घटना प्रधान और नाटकीय प्रसंगों को भी जगह दी गई है जो हमारे इर्द-गिर्द घटित होती रहती हैं। 'इज्जत के लिए', 'दूदा पहलवान', 'रामखेलावन' और 'गुरुमुख सिंह की वसीयत' जैसी कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। लेकिन ये अपने समकाल से कतई अलग नहीं है। साथ ही, 'मंतर' और 'मूत्री' जैसी मजेदार कहानियां भी हैं जो एक लंबे चुटकुले की तरह गुदगुदाती हैं। 'मंतर' कहानी जहां बाप-बेटे की नाटकीय खींचतान से पैदा हुई है वहां 'मूत्री' में हिंदुस्तान के बरक्स पाकिस्तान और फिर दोनों ही मुल्कों की 'मांओं' की इज्जत को उनके ही बेटों ने दांव पर लगा रखा है।

चूंकि मंटो की रोजी रोटी का एक अहम जरिया फिल्मी लेखन भी था इसलिए उन्हें सिनेमाई अंदाज में और 'सिनेक्राफ्ट' के नजरिए से भी अपनी बहुत-सी रचनाओं को पेश करना पड़ता था। इस फन में वे माहिर ही नहीं बंबइया फिल्मी लेखन के अव्वल और नामचीन लेखकों में एक थे। जाहिर है, उनके लिए वैसी ही जुबान में अपने जजबातों और किरदारों को पेश करना होता था जो पन्ने पर ही नहीं, पर्दे पर भी अपनी छाप छोड़ सकें। लेकिन उनके लेखन में अगर कोई शहंशाह, कोई शाहजादी, मुगलिया शानोशौकत या लखनवी तबीयत या नफासत नहीं मिलती तो इसकी वजह है उनकी अपनी समाजी जिम्मेदारी, जो उन्हें तरक्की-पसंद अदब की दुनिया से मिली थी। इसलिए उनके पास कोई अकबर, शाहजहां और वाजिद अली शाह, यहां तक कि कोई उमरावजान अदा भी नहीं है। अपनी कल्पना से और लेखकीय खयालों से वे उसी मंजर को पेश कर सकते थे जो सिर्फ उनका था या फिर उनके पाठकों का। कंपनी के दौर की दम तोड़ती नाटक मंडलियां और राजसी पर्दे टांगकर फिल्में बनानेवाले लोग ऐसी काल्पनिक और रोमांटिक दुनिया पेश कर भी रहे थे। मंटो के सामने ऐसे किरदारों का लंबा-चौड़ा काफिला और हुजूम था,

जिन्हें पता तक नहीं था कि मंटो उनका बुरी तरह पीछा कर रहे हैं। कभी-कभी वे उनके सस्ते चायघर, वाहियात रेस्त्रां, देसी शराब के अड्डे, पार्क की बेंच, गंदी चालों में उनके घर ही नहीं, रंडी के कोठे और संडास तक पहुंच जाते थे। कभी-कभी तो उनके पहुंचने से पहले ही दांव लगाकर बैठे होते थे ताकि 'काली सलवार' की सुल्ताना से रू-ब-रू हो सकें। 'हारता चला गया' की गंगूबाई अपना भला चाहने वाले सेठ से जब यह पूछ रही होती है, 'सेठ, तुम दस रुपये देकर एक की बत्ती बुझाने चले हो... जरा देखो, कि कितनी बत्तियां जल रही हैं? क्या तुम ये सब बत्तियां बुझा सकते हो?' तो मंटो उसके कोठे से लगी दीवार से सटकर उसका यह जलता सवाल सुन रहे होते थे। ऐसा ही एक उदाहरण 'हतक' की सुगंधी का भी है, जिसे एक ग्राहक सेठ 'उंह' कहकर मुंह बिचका देता है। दलाल जब सुगंधी से यह कहता है कि सेठ ने उसे पसंद नहीं किया तो उस साढ़े सात रुपल्ली वाली रंडी में एक अजीब-सी फितरत पैदा होती है और वह तय कर लेती है कि वह भी किसी मर्द को नापसंद कर ठुकरा देगी। सेठ को उसकी मां की गाली देती हुई वह अपने खाज के मारे कुत्ते को गोद में उठाकर सागौन के चौड़े पलंग पर बगल में लिटाकर सो जाती है। यह खजियाहा कुत्ता उसके लिए किसी इंसान से बेहतर है।

कोठे और रंडियों (लाल बत्ती नाम से बदनाम) की जिंदगी और उनके पेशे से जुड़ी कहानियां लिखते हुए मंटो ने उस अभिशप्त और अनजाने अंधेरे को उजागर करने का बीड़ा उठाया था। जहां लोग दिन के वक्त एक ओर तो नाक पर रुमाल रखकर उनकी गंदी गलियों से गुजरते थे लेकिन शाम होते ही कलाई पर गजरे लपेटे और गाल में बीड़े दबा, बड़ी शोखी और शान से अपनी मर्दानगी का जश्न मनाने निकलते थे।

अगर मंटो ने इन जिस्मफरोश कोठेवालियों सुगंधी, सुलताना, अनवरी, जानकी जैसी पात्रों को करीब से नहीं देखा होता तो वे उनकी इन अमर कहानियों का हिस्सा नहीं बन पाते। इन सबके बीच 'मोजेल' की मोजेल को कौन भूल सकता है? मुसलमान घरानों में घिरी यह यहूदी औरत किसी सामाजिक, धार्मिक और नैतिक रूढ़ियों और रुकावटों की परवाह नहीं करती लेकिन यह उसकी मानवीय चेतना ही है कि वह जान देकर भी अपने प्रेमी तिरलोचन सिंह की मंगेतर को बचा लेती है। इसके लिए वह अपना धर्म, शर्म और आचार-व्यवहार सब कुछ न्योछावर कर देती है। ऐसे पात्रों की लंबी-चौड़ी और जीवंत गैलरी का निर्माता मंटो मरकर भी, इनके साथ जिंदा और जावेद है।

अश्लीलता, (फोहश) का या औरत-मर्द के यौन चित्रण प्रसंगों को कहानी में थोड़ा खोलकर लिखनेवाले मंटो इस मामले में अधिक दुस्साहसी कहे जा सकते हैं या बताए जाते रहे हैं क्योंकि समाज में तब आदर्श बनाम यथार्थ की जो बहस चल रही थी, उसमें अगर किसी को बतौर नजीर पेश करना होता था तो लेखकों की बतकही से लेकर अदालती सम्मन तक एक ही जुमला काफी था। 'मंटो, अदालत में हाजिर हो!' ठंडा गोश्त' कहानी इसका सबसे मौजू उदाहरण है। अपनी लेखकीय सफाई में मंटो ने कहानी का खुलासा करते हुए कहा भी था। 'ठंडा गोश्त' का ईशर सिंह अपनी वासना से इतना तपा हुआ था कि दंगे के दौरान, कत्लोगारत के बाद वह एक मुस्लिम लड़की को उठा लाया। ताकि उसकी अस्मत लूटकर वह बदले की आग ठंडी कर सके। ऐसे कामातुर ईशर सिंह को जब यह पता चला कि मारे दहशत के लड़की ने उसके कंधे पर

ही दम तोड़ दिया है तो इस सर्द अहसास के चलते उसकी मर्दानगी जाती रही और वह नामर्द हो गया।

इस कहानी की पृष्ठभूमि में ईशर सिंह में मर्दानगी जगाने वाली उसकी बीवी कुलवंत कौर के उकसावे और जिस्मानी हरकतों को एक सीमा तक अवश्य ही अश्लील कहा जा सकता है लेकिन कहानी के अंत में कुलवंत कौर के जिस्म, जिसकी बोटी-बोटी थिरक रही थी, की तरफ देखकर जब ईशर सिंह बताता है। 'वह मरी हुई थी... लाश थी... बिलकुल ठंडा गोश्त... जानी, मुझे अपना हाथ दे!' और कुलवंत ने जब अपना हाथ ईशर सिंह के हाथ पर रखा, जो बर्फ से भी ज्यादा ठंडा था तो कहानी का चरम बिंदु देह से निकलकर उसकी रूह में दाखिल हो जाता है। ईशर सिंह के जिस्म मे जो भी बची-खुची संवेदना थी वह उस खौफनाक मंजर को बयान करते-करते खत्म हो गई थी। इसी ने उसे नामर्दी और पछतावे की आग में झोंक दिया था। देवेंद्र इसर ने मंटो के हवाले से ही यह लिखा था कि 'ईशर सिंह को मरते हुए अपनी मौत का अहसास बिल्कुल नहीं था।' (*मंटो : अदालत के घेरे में*)[1]

कई तरक्कीपसंद अदीब, जिनमें उनमें कई दोस्त भी शामिल थे, उन्होंने मंटो की कई कहानियों को अश्लील बताकर एक 'सरक्यूलर' तक जारी किया कि उसकी कोई भी कहानी आइंदा किसी रिसाले में न छापी जाए। आज जिन कहानियों को सामाजिक यथार्थ और लेखक की प्रतिबद्धता से जोड़कर देखा जाता है और जिनके बिना उर्दू अदब का इतिहास मुकम्मल नहीं माना जा सकता, उन कहानियों ('बू', 'धुआं', 'काली सलवार', 'खोल दो', 'ऊपर नीचे और दरम्यान' (नाटक) 'ठंडा गोश्त') पर मुकद्दमे चले और मंटो को यह हिदायत दी जाती रही कि वह 'कोर्ट की अवमानना' (कंटेप्ट ऑफ कोर्ट) न करे। इसके बावजूद मंटो माननीय न्यायाधीश को यह बताने से नहीं चूकते थे कि औरत की छाती को छाती कहने में कोई बुराई नहीं है और उसे मूंगफली नहीं कहा जा सकता।

मंटो को इसीलिए उनकी कुछ विवादास्पद कहानियों के लिए अदालतों में घसीटा गया, उन पर पाबंदी लागई गई और जुर्माना भी ठोका गया। इल्जाम यह था कि वे अपनी उन कहानियों में यौन संबंधों या सेक्स प्रसंगों को अनावश्यक तौर पर खींचते हैं और पाठकों को लुभाते हैं। साहित्य और कला निर्मितियों में ऐसे विवरणों और संकेतों को लेकर शुचितावादी और प्रगतिवादी एवं यथार्थवादी तथा अतियथार्थवादी लेखकों और आलोचकों के वर्ग में कटुतापूर्ण विवाद जगजाहिर हैं। कानूनी दाव-पेंच और नियम कानून भी रचना कर्म पर हावी रहे हैं। खुद मंटो को इस बारे में सफाई देनी पड़ी। 'मैं उस तहजीब (सभ्यता) और तमद्दुन (आचार-विचार) और सोसाइटी की चोली क्या उतारूगा जो है ही नंगी। मैं उसे कपड़े पहनाने की कोशिश भी नहीं करता क्योंकि यह मेरा काम नहीं, दर्जियों का काम है। लोग मुझे स्याह कलम कहते हैं लेकिन मैं स्याह तखती पर काले चाक से नहीं लिखता। मैं सफेद चाक का इस्तेमाल इसलिए करता हूं ताकि तख्ता स्याह की स्याही और साफ हो जाए।'

उनकी ऐसी इल्जामशुदा कहानियों में 'ऊपर नीचे और दरमियान', 'चुगद', 'धुआं', 'ढाढ़स', 'शिकारी औरतें', 'ठंडा गोश्त' और 'खोल दो' वगैरह का जिक्र अक्सर होता रहा है। दरअसल औरत-मर्द के देह संबंध की स्वीकृति और इससे जुड़ी यौन विकृतियां उसी पाठक को विचलित

करती हैं जो केवल इसी में रुचि लेता है। किसी कहानी, रचना या कृति का यह भी दायित्व होता है कि वह इन स्थितियों के माध्यम से पाठक समाज को इस लायक बनाए कि वह इस बारे में सोचे कि आखिर हमारे समाज में यह नासूर क्यों है और इसे कैसे यह खत्म किया जा सकता है और वह भी बिना उपदेश दिए बगैर कानून बना और बगैर फलसफा बघारे।

मंटो की कहानियों की जो दुनिया है। वह अपनी संवेदना, संरचना और संदेश में एक दूसरे से परस्पर इतनी गुंथी होती है कि अगर किसी एक भी छेड़ा या उधेड़ा गया तो सारी निर्मिति ही बिखर जाएगी। विषय, पात्र, प्रसंग, शब्द, मुहावरे के साथ उनका देशकाल सब कुछ उनके ही सांचे में ढला होने के बावजूद, सिर्फ उनका ही नहीं, बल्कि आम इंसानी समाज का हिस्सा हो जाता है। उपस्थिति की यही निरंतरता उनकी जन्मशती को और भी प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण बनाती है।

हिंदू मुस्लिम दंगों पर लिखी गई मंटो की कई कहानियां का अक्सर जिक्र होता है लेकिन मंटो जो एक अफसानानिगार के साथ नामानिगार (पत्रकार) भी थे, अच्छा खासा चुटकुला भी लिख देते थे। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम दंगों के बारे में लिखा कि तब हम लोग बाहर जाते हुए अपने साथ दो टोपियां रखते थे एक हिंदू कैप और दूसरी रूमी टोपी। जब मुसलमानों के मुहल्ले से गुजरते थे तो रूमी टोपी पहन लेते थे और जब हिंदुओं के मुहल्ले में जाते थे तो हिंदू कैप लगा लेते थे। इस दंगे में हम लोगों ने गांधी टोपी खरीदी। 'पहले मजहब सीनों में होता था, आजकल टोपियों में। सियासत भी अब इन टोपियों में चली आई है... जिंदाबाद टोपियां !'

'फिल्मिस्तान' में काम करते हुए मंटो ने बंबई फिल्म जगत के कई नामी-गिरामी अभिनेताओं-अभिनेत्रियों के बारे में चुटकी लेते हुए जिस अंदाज से लेखन किया है उसका कोई सानी नहीं है। इतनी बेबाकी से तो कोई कानाफूसी और बतकही भी नहीं करता। नर्गिस ('वह जो थी नर्गिस') के बारे में लिखते हुए अशोक कुमार (की प्रशंसा) के साथ उन्होंने सुरैया और नर्गिस की मां जद्दनबाई के बारे में जो वाकया बयान किया है, वह भी काबिले गौर है। 'सुरैया का जिक्र आया तो जद्दनबाई ने नाक-भौं चढ़ाकर उसमें और उसके सारे खानदान में कीड़े डालने शुरू कर दिए। सुरैया की ऐब-जोयी वह एक फर्ज के तौर पर करती थीं। उसका गला खराब है... बेसुरी है ! बे-उस्तादी है। दांत बड़े वाहियात हैं। उधर सुरैया के यहां जाओ तो नर्गिस और जद्दनबाई पर अमल-ए-जर्राही शुरू हो जाता था। सुरैया की नानी (जो हकीकत में उसकी मां थी) हुक्के के बते उड़ा-उड़ाकर दोनों को खूब कोसती थीं। नर्गिस का जिक्र आता तो वह बुरा-सा मुंह बनाकर मीरासनों के अंदाज में जुगत करतीं। मुंह देखो, जैसे सड़ा-गला पपीता होता है।'

मंटो को निजी जिन्दगी और इससे बाहर की जिन्दगी में कोई पर्दा नहीं था और न कोई तकल्लुफ। उन्होंने रईसी और फकीरी दोनों ही जिंदगी का लुत्फ उठाया। कृशन चंदर, वाचा, राजा मेंहदी अली खां, गुलाम मुहम्मद, उपेंद्रनाथ अश्क, विश्वामित्र 'आदिल' ये तमाम लेखक कमोबेश एक ही उम्र और मिजाज के थे। ये अदीब और फनकार एक दूसरे की रचनाओं और गतिविधियों पर खुलकर बहस करते थे, यहां तक कि कभी-कभी कटुता की हद भी पार कर जाते थे। इसके बावजूद वे एक दूसरे से मिले बिना रह नहीं सकते थे। अपनी मित्रता के कुछ ही दिनों बाद मंटो ने अश्क को कहा था, 'तुम मुझे अच्छे लगते हो अगरचे मुझे तुमसे सख्त नफरत है।' अश्क

ने भी जवाब यही जुमला दोहरा दिया था, 'यही हाल मेरा है।'

अश्क ने बाद में अपने नाटकों का दूसरा संग्रह 'चरवाहे' मंटो के नाम ही समर्पित किया था। लिखा था, 'जो मुझे कभी बहुत अच्छा लगता है और कभी सख्त बुरा।'

अपनी कहानियों द्वारा समाज को बदलने या उसकी आलोचना करने के पहले मंटो ने इसकी रग-रग, इसकी एक-एक धड़कन को पहचानने और परखने की कोशिश की थी। इसलिए उनके रचना संसार में एक बहुत बड़ी दुनिया समाई हुई है, जो अनुभवों से समृद्ध है। इनमें नेता, रईस, लेखक, जमींदार, साहूकार, कामकाजी लोग, घरेलू औरतें, नौकर,दलाल, कोठेवालियां, पुलिस और तमाम पेशेवर लोग शामिल हैं। इन्हीं में से मैडम डिकोस्टा, बाबू गोपीनाथ, सुगंधी, महमूदा, मोजेल और स्टेला जैक्सन जैसे पात्रों का सृजन उनके गहरे अनुभव और पैनी नजर के कारण ही संभव हुआ है। मंटो उनकी भाषा और देहभाषा को ऐसी खास पहचान दे देते हैं कि वे हमारे दिलो दिमाग में अनायास उतर जाते हैं। मंटो ने लिखा भी है, 'मैं जो भी हूं, और जैसा कि मुझे यकीन है कि मैं इंसान हूं। इसका सबूत यह है कि मुझमें खामियां है और खूबियां भी। मैं सच बोलता हूं लेकिन किन्हीं मौकों पर ही।'

❐❐

---

1. *सुप्रसिद्ध लेखक देवेंद्र इस्सर ने मंटोनामा और मंटो : अदालत के घेरे में जैसी पुस्तकें लिखकर, हम जैसे हिंदी पाठकों को मंटो की रचनाओं से परिचित कराया था। बाद में, कमलेश्वर ने भी 'सारिका' के माध्यम से मंटो को हिंदी पाठकों से न केवल परिचित कराया बल्कि उनके बारे में अक्सर लिखते-बोलते रहे।*

सुभद्रा कुमारी चौहान कृत 'बंदिनी की डायरी'

सुंदरम शांडिल्य

हिंदी की साहित्यिक दुनिया की नजर में सुभद्रा कुमारी चौहान के लेखन की कुल जमा पूंजी हंस प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा जारी 'सुभद्रा समग्र' (प्रथम संस्करण, 2000) में संकलित 88 कविताएं और 46 कहानियां हैं। याददाश्त पर थोड़ा जोर डालें तो 'मुकुल' (काव्य संग्रह), 'बिखरे मोती' एवं 'उन्मादिनी' (कहानी संग्रह) की निवेदन स्वरूप लिखी गई उनकी संक्षिप्त भूमिकाएं सामने आती हैं। सुभद्रा जन्मशती वर्ष 2004 में स्वराज संस्थान संचालनालय, मध्य प्रदेश शासन द्वारा प्रकाशित मोनोग्राफ 'सुभद्रा कुमारी चौहान' (लेखक-मंगला अनुजा) में 18 जून 1933 को झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की हीरक पुण्यतिथि के उत्सव पर ग्वालियर में दिए गए सुभद्रा के अध्यक्षीय भाषण के कुछ अंश मिलते हैं, तो 'आलोचना' पत्रिका (अक्टूबर-दिसंबर, 2004 जनवरी-मार्च, 2005) में कवि-आलोचक नीलाभ के आलेख 'राष्ट्रीय काव्यधारा और सुभद्रा कुमारी चौहान' में 'प्रभा' और 'कर्मवीर' सरीखे तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सुभद्रा के लेख, निबंध और टिप्पणियों की महज सूचना। इसी तरह 'शब्दशिखर' पत्रिका (अंक 6-7, 2005) में शीर्षस्थान संस्मरण लेखक कांतिकुमार जैन के स्मृत्यालेख 'जेल तो मेरा मायका है' से उनकी दैनंदिनी 'बंदिनी की डायरी' के दो सुरक्षित पृष्ठों एवं उनके कुछ पारिवारिक पत्रों की जानकारी प्राप्त होती है। सन् 2010 में आई तरूशिखा सुरजन की पुस्तक 'हिंदी पत्रकारिता का प्रतिनिधि संकलन' (राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली) में सुभद्रा का 'नारी' पत्रिका (1947, जबलपुर) के लिए लिखा गया पहला संपादकीय उपलब्ध होता है। सुभद्रा साहित्य पर केंद्रित शोध सामग्री संकलन के क्रम में कमलाकांत पाठक की पुस्तक 'सुभद्रा साहित्य और राष्ट्रीय कविता' (लोकचेतना प्रकाशन, जबलपुर, संस्करण 1973) के 'अन्य गद्य रचनाएं' शीर्षक अध्याय में 'बंदिनी की डायरी के दो पृष्ठों का ही उल्लेख मिला। इसी क्रम में कुछ समय पश्चात् हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर के जवाहरलाल नेहरू ग्रंथालय में मनोज प्रियदर्शन जैन के पीएच.डी. शोध प्रबंध 'हिंदी की राष्ट्रीय काव्यधारा में सुभद्रा कुमारी चौहान का योगदान' (1994) के परिशिष्ट में उनके ससुर कांतिकुमार जैन के सौजन्य से सम्मिलित, उक्त डायरी के दोनों सुरक्षित पृष्ठ (जो क्रमशः 30 एवं 31 जनवरी, 1943 को लिखे गए थे) मिले। यत्र-तत्र बिखरी हुई इस अलक्षित स्फुट सामग्री की प्रामाणिकता की जांच के लिए सुभद्रा की सबसे बड़ी बेटी सुधा चौहान द्वारा रचित सुभद्रा कुमारी और लक्ष्मण सिंह चौहान की संयुक्त जीवनी 'मिला तेज से तेज' (हंस

प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2004) को पढ़ना प्रारंभ किया। चौहान दंपति के जीवन क्रम से गुजरते हुए पृ. 175 पर ज्ञात हुआ कि लेखन के संस्कार प्रस्फुटित होने पर सुभद्रा अपने पढ़ने-लिखने की कापी में याद रखने के लिए कुछ बातें समय-समय पर लिख लेती थीं, जैसे फेरीवाले से 'अब मैं उधार कपड़ा नहीं खरीदूंगी' या 'अब मैं कपड़ा नगद भी नहीं खरीदूंगी।' पृ. 184 पर उनकी जेल डायरी का प्रथम उल्लेख मिला जिसमें उनकी बिगड़ती तबीयत का हाल इस 'नोट' के साथ दर्ज है कि 'यह आगे की कहानी है।' आगे प. 202, 214, 217, 218 पर उस डायरी से कतिपय अंश प्रस्तुत करते हुए सुभद्रा के उन दिनों का जीवनवृत्त पेश है जब सन् 1942 के आंदोलन के सिलसिले में वे जबलपुर सेंट्रल जेल में राजनीतिक बंदी थीं। यद्यपि इसके पूर्व स्वाधीनता आंदोलन में कांग्रेस की ओर से सत्याग्रह करते हुए वे कई बार हवालात-जेल जा चुकी थीं (पहली बार झंडा सत्याग्रह के सिलसिले में 18 मार्च सन् 1923 को जबलपुर में एक रात के लिए हवालात में बंद रहीं। दूसरी बार नागपुर में अप्रैल, सन् 1923 के बाद किसी महीने के किसी दिन सत्याग्रह करते हुए गिरफ्तार हुईं किंतु खराब स्वास्थ्य के कारण गर्भवती सुभद्रा को जेल अधिकारियों ने सजा पूरी होने के पहले ही छोड़ दिया। तीसरी बार सन् 1914 में महात्मा गांधी के आदेशानुसार तिलक भूमि तलैया, जबलपुर में व्यक्तिगत सत्याग्रह करते हुए गिरफ्तार हुईं और कोर्ट उठने तक की सजा बिताकर व एक रुपया जुर्माना देकर छूट गईं। कुछ समय बाद दुबारा सत्याग्रह करने पर वे चौथी बार गिरफ्तार हुईं तो उन्हें एक महीने जेल की सजा सुनाई गईं। पांचवी और अंतिम बार 11 अगस्त, 1942 को डिटेंशन आर्डर पर गिरफ्तार होकर वे पुनः जबलपुर सेंट्रल जेल में पहुंचीं)। किंतु प्रायः अल्प अवधि में ही अपनी रिहाई के कारण उन्हें जेल में लिखने-पढ़ने का कोई अवसर नहीं मिला। केवल एक बार, सन् 1914 में जब व्यक्तिगत सत्याग्रह में वे एक महीने के लिए जबलपुर सेंट्रल जेल में अकेली बंदी थीं और उन्हें महिला अस्पताल के एक कमरे में रखा गया था, तब एकांत का फायदा उठाकर उन्होंने करीब 15 कहानियां लिख डाली थीं। यहां 'मिला तेज से तेज' में आए सुभद्रा के जेल जीवन प्रसंगों एवं प्राप्त दोनों सुरक्षित पृष्ठों को आधार बनाकर सुभद्रा की विलुप्ति एवं अब तक अप्रकाशित कृति-'बंदिनी की डायरी' की विषयवस्तु एवं रचना प्रक्रिया की एक झलक देना ही मुमकिन होगा।

'बंदिनी की डायरी' के लेखन की पृष्ठभूमि उस समय तैयार हुई जब 8 अगस्त, 1942 को बंबई में कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक हो रही थी कि उसी दौरान वर्किंग कमेटी के सदस्य और देश के बहुत से अन्य नेता रात को ही गिरफ्तार कर लिए गए। 9 अगस्त की सुबह जबलपुर में लक्ष्मण सिंह चौहान गिरफ्तार हुए और 11 अगस्त को सुभद्रा गिरफ्तार हुईं। जिस दिन लक्ष्मण सिंह जेल गए, सुधा चौहान के अनुसार उस दिन के बारे में मां ने कुछ रोज बाद अपनी डायरी में, जो यों ही कभी-कभी लिखी जाती थी, टांका

'केवल एक प्याला चाय लेकर ही इस घर का गौरव घर से विदा हुआ। मैंने पूछा, 'मेरे लिए क्या कहे जाते हो?' 'जो कुछ तुम ठीक समझो। तुम जेल जाना चाहो तो तुम भी जाना। बच्चों के लिए ईश्वर है।' और सब लोगों से मुस्कराते हुए वकील साहब विदा हुए। सब बच्चे उदास थे। बड़ी लड़की सुधा के आंसू न रुकते थे। मुझे भी दुख था पर साथ ही यह भावना

और प्रबल थी कि मेरे वकील साहब को गिरफ्तार करके उनके काम को कोई बंद नहीं कर सकता। मैं दूने उत्साह के साथ उनके कार्यक्रम को पूरा करूंगी। उसी दिन शाम को मैं शहर की कई प्रमुख महिलाओं से मिली पर किसी में आगे आने का साहस न था। शाम को तलैया पर सभा हुई। लोगों के भाषण हुए। मुझे किसी ने बोलने नहीं दिया। भाषण करने वाले सब गिरफ्तार कर लिए गए। मैं घर आईं। बच्चे उदास थे कि कहीं मां भी न पकड़ ली जाएं। खूब पानी बरसा था। घर में कुछ महिलाएं मेरे लिए बैठी थीं। रात बड़ी भयंकर जान पड़ी। शर्माजी सोए थे, फिर भी डर लगता था कि जैसे घर में कोई भी नहीं है। वकील साहब के रहने पर मैं बड़ी बेखबर सोती हूं। ऐसी निर्भयता रहती है जैसे किसी सुरक्षित किले में सो रही होऊं। पर आज उनकी गैर-हाजिरी में रात को क्षण भर के लिए भी नींद न आई। चारों ओर भयानक लगता था। रात में निश्चय किया कि मैं जेल न जाऊंगी। मेरे छोटे-छोटे बच्चों के प्रति भी तो मेरा कुछ कर्तव्य है। उनके पढ़ने-लिखने का खर्च कौन उठावेगा? फिर इतनी भयंकर रातें।' (मिला तेज से तेज, पृ.202)

यह डायरी अंश 'कुछ रोज बाद' नहीं, संभवतः अगले दिन 10 अगस्त को जेल से बाहर रहते हुए लिखा प्रतीत होता है क्योंकि सुभद्रा बच्चों के साथ हैं, जबकि कुछ रोज बाद सुभद्रा जेल में तथा बच्चे घर में अकेले रह गए थे।

'बंदिनी की डायरी' जिन परिस्थितियों में लिखी गई, वह एक रोचक प्रसंग है। जेल में हर कैदी को तीन-चार छटांक लकड़ी का कोयला मिलता था और मिट्टी का तेल भी केवल इतना ही कि बस एक घंटा जल सके। सुधा के शब्दों में 'मां अपने लिखने-पढ़ने का काम रात के निस्तब्ध एकांत में ही कर पाती थीं। उस एक घंटे के तेल का परिणाम यह हुआ कि जहां सन् 41 के एक महीने के जेल प्रवास में उन्होंने लगभग पंद्रह कहानियां लिख डाली थीं, वहां इस बार नौ-दस महीने की अवधि में उन्होंने अपनी डायरी के कुछ पन्ने लिखे। और वे भी शायद अपनी आंतरिक विवशता से, क्योंकि वे जानती थीं कि 'रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही रखियो गोय।' यदि कहतीं भी तो किससे कहतीं और मन में छिपा रखने की भी एक सीमा होती है, इसलिए अपने भीतर की उस व्यथा को डायरी के पन्नों में कह देना मन को कुछ शांति देता है, लेकिन यहां तो मां की उस जेल डायरी में भी बहुत बार केवल यही लिखा मिलता है कि आज लालटेन में तेल नहीं है, इसलिए कुछ लिख न सकूंगी, या कि मैं जल्दी-जल्दी कुछ लिख देना चाहती हूं, क्योंकि लालटेन दम तोड़े दे रही है।' (वही पृ. 214-15)

जबलपुर सेंट्रल जेल में सुभद्रा के साथ मध्य प्रदेश की सभी महिला राजनीतिक बंदिनियां रखी गई थीं। ए क्लास में केवल दो स्त्रियां थीं जमनालाल बजाज की पुत्री ओम और पुत्रवधू सावित्री बजाज। बी क्लास में सुभद्रा के साथ बहुत-सी स्त्रियां थीं, बीस-पच्चीस तो वर्धा महिलाश्रम की लड़कियां थीं। शेष बंदिनियों को सी क्लास में रखा गया था। राजनीतिक बंदियों में यह ए,बी,सी क्लास कर देने से उनके बीच एक खाई खिंच जाती थी। यह वर्गीकरण केवल सरकार द्वारा थोपा हुआ नहीं रह गया था, उनके अपने मन ने भी उसको स्वीकार कर लिया था। इसी कारण सी क्लास की बंदी स्त्रियों के प्रति ए और बी क्लास की बंदिनियों का व्यवहार बहुत अच्छा न था। यह देखकर सुभद्रा को गहरा क्षोभ होता। कभी-कभी थोथी सिद्धांतप्रियता से उनका

जी खट्टा हो जाता था। महिलाश्रम की लड़कियों के खाने में से प्रतिदिन कुछ न कुछ बचता था जो वापस भेज दिया जाता। सुभद्रा ने सलाह दी कि बी क्लास का खाना वापस न भेजकर सी क्लास की उन एक-दो गर्भवती स्त्रियों को दे देना चाहिए, जिनसे सी क्लास का खराब खाना गले नहीं उतरता था, लेकिन सत्य आचरण का व्रत लिए वे आश्रमवासिनियां यह अवैध काम नहीं करतीं। परिणामतः सुभद्रा अपने खाने में से ही कुछ उनको दे दिया करती थीं और जेल अधिकारी जब-तब पत्र लिखने- पाने की सुविधाएं बंद कर उन्हें दंडित करते थे।

एक बार मेट्रन ने कुछ सी क्लास की स्त्रियों को सजा देने के लिए उनको बाहर ही छोड़कर बैरक बंद कर दी। चूंकि उन स्त्रियों के पास छोटे-छोटे बच्चे भी थे और ओढ़ने-बिछाने का सामान उनके ओठे पर ही छूट गया था, इसलिए रात में उनके बिछाने के लिए सुभद्रा ने जब महिलाश्रम की लड़कियों से जूट की वह लंबी पट्टियां मांगी, जिन पर बैठकर वे चर्खा काततीं और शाम की प्रार्थना करती थीं तो कानून का उल्लंघन करने में सत्य और अहिंसा से च्युत हो जाने के डर से उन्होंने इंकार कर दिया। अंत में सुभद्रा ने अपन बिस्तर में से एक दरी और एक कंबल निकालकर बच्चों को सुलाने के लिए दिया और इस अपराध के लिए पुनः जेल अधिकारियों की कोपभाजन बनीं। ऐसी ही एक घटना का उल्लेख करते हुए सुभद्रा 30 जनवरी, 1943 को अपनी जेल डायरी में लिखती हैं:

30 जनवरी, 1943 शनिवार, रात के ग्यारह बजे Well Send Letters, Vellore Jail-Chowhan

यह तार आज 1:30 बजे दिन को मिला। किंतु विवश हूं मैं पत्र न लिख सकूंगी। आज से मेरी सारी सुविधाएं एक महीने के लिए बंद हैं। सी क्लास की कुछ बहिनों ने गणेश चतुर्थी का व्रत किया था। यह व्रत चंद्रदर्शन के पश्चात ही टूटता है। उन बहिनों ने सुपरिटेंडेंट से कहा कि आज वे ताले में बंद न होंगी और इस पर सुपरिटेंडेंट ने उन्हें सारी सुविधाएं बंद कर देने की धमकी दी थी। पर उन्हें कोई सुविधाएं थीं ही नहीं, क्योंकि उन्हें सजा हो चुकी थी और कैदी कपड़े न पहनने के कारण उनकी सारी सुविधाएं पहले से ही बंद थीं। अतएव चंद्रदर्शन करके उपवास तोड़ने के लिए वे बहिनें खुली रहीं। मेट्रन ने उनकी रिपोर्ट की। उन बहिनों की सुविधाएं बंद हैं, उन्हें क्या सजा दी जाए। उसने उनका भोजन बंद कर दिया। तीन दिन उन्हें केवल गंजी खाने का हुकुम हुआ। यह बात 27 फरवरी की है। मेरी तबीयत उस दिन बहुत खराब थी। मैं बिस्तर पर से उठी ही नहीं। 28 फरवरी को मुझे मालूम हुआ कि वे बहिनें कल से भूखी हैं। मेट्रन ने मना कर दिया है कि उन्हें कोई खाना न दे, इसलिए बी क्लास और सी क्लास की दूसरी बहिनों ने उन्हें खाना नहीं दिया। बी क्लास का बचा हुआ भोजन मैंने परोसकर उन बहिनों को खिलाया। मेरी तबीयत खराब थी। वे ताले में बंद थीं। फिर भी मैं ऊपर भोजन ले गई, पानी ले गई, उन्हें खिलाया-पिलाया। इस पर मेरी रिपोर्ट हुई और महीने भर के लिए मेरी सारी सुविधाएं बंद कर दी गईं... <u>पर मुझे इसका दुःख नहीं है, क्योंकि मैं भूखे को भोजन खिलाना और प्यासे को पानी पिलाना अपना परम धर्म समझती हूं। ईश्वर के बनाए नियमों को मानती हूं। किसी भी मनुष्यों को जबरन भूखा रखना मानवता के विरुद्ध है। फिर इस जेल में सब बहिनें चाहे ए क्लास की हों, चाहे बी या सी की, हम सब एक ही पथ की पथिक हैं, हमारा</u>

एक ही उद्देश्य है। इस अवस्था में जहां दस बहिनें भूखी पड़ी हैं, वहां हम खाना खाकर निश्चित होकर कैसे अपने प्रतिदिन के कार्य में लग सकते हैं? कम से कम मैं तो नहीं देख सकी और इस परिणाम को जानते हुए भी उन्हें भोजन कराया। इस मामले में मैं अकेली हूं, मेरा साथी कोई नहीं।

डॉक्टर भावे ने सुबह मुझे फिर देखा। वकील साहब का पत्र, उनके पास था जिसमें उन्होंने मेरी बीमारी के बारे में आई.जी. को लिखा था कि मेरा ठीक इलाज कराया जाए। देखूं क्या होता है।

आज बच्चों का कोई पत्र नहीं आया और न महीने भर आ सकेगा। ईश्वर है। वही उनकी रक्षा करेगा और वही उन्हें सारे कष्टों को सहने की शक्ति देगा। ईश्वर, मेरे निरपराध छोटे-छोटे बच्चे-बच्ची को तू ही संभाल रखना। परमात्मा, वे तेरे ही हैं, तू ही उन्हें देखना।

(उपरोक्त अंश में कतिपय स्थलों पर पाठ भेद मिलता है। रेखांकित पंक्तियां जहां केवल प्राप्त पृष्ठ में ही मिलती हैं, वहीं बिंदु अंकित पंक्तियां केवल जीवनी में मिलती हैं, शेष अंश दोनों स्रोतों में समान हैं। जीवनी के पृ. 218 के तीसरे परिच्छेद का प्रथम भाग 'आज बच्चों का ... उन्हें देखना' 30 जनवरी, 1943 को लिखी गई डायरी का अंश है जबकि अगला हिस्सा 'ईश्वर, तू दुनिया... परमात्मा' 31 जनवरी को लिखी गई डायरी का अंश है। प्रसंग समान होने के कारण सुधा चौहान ने इसका एक साथ इस्तेमाल कर लिया है। प्राप्त पृष्ठ के अनुसार यह अंश आगे विवेचन के साथ दिया जाएगा।)

जेल में सुभद्रा की सबसे छोटी बहन ममता उनके साथ थी लेकिन शेष चारों बच्चे सुधा, अजय, विजय, अशोक जो जेल के बाहर छूट गए थे, उनके लिए सुभद्रा का जी तड़पा करता था। 31 जनवरी 1943 को डायरी में वे दर्ज करती हैं:

आज इतवार है। आज मेट्रन छुट्टी पर है। कोई विशेष घटना नहीं हुई। दिन भर बच्चों का ख्याल आता रहा। वे सब आज घर पर ही होंगे। ममता दिन को कहने लगी 'अम्मा, हमारी जीजी हमको बुला रही है ममता... ममता... वह सुनो।' मैंने कहा 'हां बेटी बुला तो रही है। भइया लोग भी तुम्हें बुला रहे हैं।' इस पर ममता बोली 'अम्मा घर चलो, फिर हमारे भैया लोग हमें प्यार करेंगे। हमारी जीजी हमें गोद में लेंगी।' आज ममता के लिए कोई फल नहीं है। फल कल आते पर अब तो नहीं आ सकेंगे।

ईश्वर महान है। अपनी संतानों की रक्षा करता है। वही अपने उन छोटे-छोटे की जिसके माता-पिता दोनों जेल में हैं रक्षा करेगा। ईश्वर! तू दुनिया में सबका भला करने के बाद एक बार मेरे उन चारों बच्चों की ओर भी देख लेना। इतना ही उनके लिए बहुत है। मैंने तो दुनिया में कोई ऐसा सुकर्म नहीं किया कि तुझसे कृपा की याचना कर सकूं, परंतु उन बच्चों के पिता! वे तो देवता हैं: उन्हीं के ख्याल से तू उन बच्चों को देखना, परमात्मा।

(उक्त अंश में रेखांकित पंक्तियां केवल प्राप्त पृष्ठ में ही मिलती हैं, शेष अंश पृष्ठ और जीवनी दोनों में समान हैं।)

इस बात की पुष्टि में सुधा चौहान ने लिखा है 'जिन बच्चों के लिए उनका जी इतना तड़पता था, उनको चिट्ठी लिखने और उनकी चिट्ठी पाने की सुविधा को समझ-बूझकर भी अन्याय

के विरोध में तिलांजलि दे देना, उनके साहस को और किन्हीं महत्व जीवन मूल्यों के प्रति उनकी निष्ठा को रेखांकित करता है।' (वही पृ. 218-19)

जेल में ममता भले ही अपनी मां सुभद्रा के साथ थी, लेकिन वहां मिलने वाले सीमित साधनों एवं मेट्रन के क्रूर शासन में ही गुजर-बसर होती थी। सुभद्रा अपनी डायरी में लिखती हैं

ममता के खाने के लिए कुछ नहीं है। मेट्रन से आटा, बेसन मांगा था। बड़े जेलर ने देने के लिए कह भी दिया था, पर कई दिन तक भीख की तरह मांगने पर वह देगी, ईश्वर उसे समझेगा!' (वही, पृ.214)

स्पष्ट है कि दूसरों को खिलाने-पिलाने की शौकीन सुभद्रा को अपनी बेटी का पेट भरने के लिए बार-बार हाथ पसारना पड़ता था। इसके अतिरिक्त अपने शारीरिक विकार के कारण साफ न बोल पाने वाली ममता, बी क्लास की महाराष्ट्रीय महिला के सुंदर बच्चे की तुलना में उपेक्षा का शिकार रहती, जो अन्य महिलाओं के हाथ का खिलौना था और जिसके लिए फल, मिठाई, खिलौने किसी चीज की कमी नहीं रहती थी। सुभद्रा यह पक्षपात असहाय भाव से देखतीं और ममता को बातों से ही बहलाया करतीं। ममता के लिए फल-मिठाई भेजने के लिए वे घर पर बच्चों को चिट्ठी लिखतीं, किंतु आर्थिक तंगी के कारण सदैव कुछ न कुछ भेजना बच्चों के लिए संभव नहीं हो पाता था। सुभद्रा की सखी और छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा ने उक्तं परिस्थितियों का अत्यंत मार्मिक शब्दांकन किया है 'छोटे बच्चों को जेल के भीतर और बड़ों को बाहर रखकर वे अपने मन को कैसे संयत रख पाती थीं, यह सोचकर विस्मय होता है। कारागार में जो संपन्न परिवारों की सत्याग्रही माताएं थीं, उनके बच्चों के लिए बाहर से न जाने कितना मेवा-मिष्ठान आता रहता था। सुभद्राजी की आर्थिक परिस्थितियों में जेल जीवन का ए और सी क्लास समान ही था। एक बार जब भूख से रोती बालिका को बहलाने के लिए कुछ नहीं मिल सका तब उन्होंने अरहर दलने वाली महिला कैदियों से थोड़ी-सी अरहर की दाल ली और उसे तवे पर भून कर बालिका को खिलाया..। इन परीक्षाओं से उनका मन न कभी हारा न उसने परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए कोई समझौता स्वीकार किया।' (पथ के साथी, लोकभारती संस्करण 2008, प. 36)

सुभद्रा महात्मा गांधी की सच्ची अनुयायी थीं। उनके जीवनादर्शों सत्य, अहिंसा, सेवा, त्याग, करुणा, आत्मसंयम आदि को उन्होंने अपने आचरण में पूरी निष्ठान एवं ईमानदारी के साथ ढाला था। अतः समाज में उनके अनुयायियों द्वारा इन आदर्शों को मात्र स्वांग या आडंबर बनता देखकर दुःखी होना स्वाभाविक था। जेल में रहते हुए उन्होंने अनुभव किया कि स्वयं को श्रेष्ठम मानते हुए कुछ लोग जिस काम को अपने लिए हेय या लज्जास्पद समझते हैं, उसे दूसरों से करने के लिए कहने में उन्हें कोई बुराई या संकोच नहीं होता। *ऐसी ही एक घटना का संकेत 2 फरवरी 1943 को सुभद्रा ने अपनी डायरी में किया है 'आज विद्यावती देवड़िया से बातचीत हुई। उनकी तबीयत बहुत खराब है, परंतु इलाज का कोई प्रबंध नहीं...। किसी ने शायद उनसे कहा कि तुम्हारी तबियत इतनी खराब है तो तुम माफी मांग लो। इस पर उन्हें बड़ा दुःख था...। (वही, पृ.217)*

निश्चय ही बीमारी के कारण विद्यावती को शारीरिक कष्ट तो था ही, पर साथियों की अनुदारता और उनका सद्भावना शून्य आचरण भी कम दिल दुखाने वाला न था। दिलचस्प है कि इस विवरण में वह नाम गायब है (पता नहीं ऐसा सुधा जैसी मुखर स्त्री ने किया या मूल अंश में सुभद्रा ने जो स्वभाव से अत्यंत संकोची एवं व्यक्तिगत राग-द्वेष से ऊपर थीं) जो अवश्य ही किसी संपन्न एवं तथाकथित देशभक्त परिवार की सदस्या थी।

जेल में रहने के बावजूद सुभद्रा बेकार नहीं बैठ सकती थीं। रोशनी के अभाव में रात को उनका लिखना-पढ़ना पहले ही बंद था, सो उन्होंने अपनी बेटी सुधा को चिट्ठी लिखा कि 'बेटी, तुम्हें पेटीकोट ब्लाउजों की जरूरत हो तो मुझे कपड़ा भेज दो, मैं सीकर भेज दूंगी।' जेल अधिकारी से उन्हें अपनी सिलाई मशीन मंगाने की अनुमति नहीं मिली तो उन्होंने हाथ की सिलाई से कपड़े सिए। महिला आश्रम की प्रायः सभी लड़कियों ने उनसे अपने ब्लाउज सिलवाए। खाली समय काटने के लिए उन्होंने कपड़ा मंगाकर कई गिलाफ काढ़ डाले। लड़कियों के मनोरंजन के लिए वे कभी कुछ तुकबंदियां कर देती थीं। इस तरह अन्य बंदिनियों के साथ उनका संबंध बहुत खुला और अच्छा था। विजयदशमी और होली जैसे त्यौहार भी उन्होंने सबके साथ मिलकर मनाया था। जेल के ये सारे वाकयात सुधा चौहान ने कुछ हद तक सुभद्रा की जेल डायरी को आधार बनाकर लिखे थे।

जेल में सुभद्रा की तबीयत अक्सर खराब रहने लगी थी। ममता के जन्म के वक्त सुभद्रा के पेट का ट्यूमर जो आपरेशन में निकाला नहीं जा सका था, डॉ. सेन की होम्योपैथिक चिकित्सा से पूरी तरह ठीक नहीं हो पाया था कि उन्हें जेल जाना पड़ा। उनका होम्योपैथिक इलाज चालू रह सके, इसके लिए लक्ष्मण सिंह ने जेल अधिकारियों से बहुत लिखा-पढ़ी की, पर वे लोग तैयार नहीं हुए। बाद में जब जेल के एलोपैथ डॉक्टर का इलाज शुरू हुआ तो ट्यूमर फिर से बढ़ गया। इसी बीच उन्हें एनीमिया भी हो गया। जांच के लिए उन्हें एक बार विक्टोरिया अस्पताल लाया गया मगर वह नाकाफी था। सुधा चौहान के अनुसार 'उन दिनों की उनकी जेल डायरी में बार-बार टंका मिलता है कि मेरा खून जांच के लिए जाने वाला है या गया है, अभी रिपोर्ट नहीं आई है और कि मेरा वजन कभी कितना और कभी कितना कम हो गया है।' (वही, पृ. 184) उनकी हालत लगातार गिरती गई और स्थिति यह आ गई कि ट्यूमर किसी भी दिन फूट सकता था और प्राणघातक बन जाता। आखिरकार 1 मई, सन् 1943 को सुभद्रा को जेल से लाकर सीधे विक्टोरिया अस्पताल में भर्ती कराया गया और उसी शाम, सरकार ने उस डर से कि अगर कहीं कैद में रहते हुए ही आपरेशन में उनकी मृत्यु हो गई तो बखेड़ा खड़ा हो जाएगा, उन्हें जेल से रिहा कर दिया गया। यहां बताना उचित होगा कि इस बार सुभद्रा या जो लोग जेल गए थे, उन्हें कोई सजा नहीं मिली थी, केवल डिटेंशन आर्डर मिला था, जो अवधि बीत जाने पर दूसरा डिटेंशन आर्डर दे दिए जाने की उतनी ही संभावना अपने साथ लिए रहता था। इसके बाद सन् 1946 में आजाद हिंद फौज के सैनिकों की मुक्ति के लिए देश में व्यापक आंदोलन चला, किंतु उसमें कांग्रेस की मुख्य भूमिका के बावजूद सुभद्रा के शामिल होने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। जाहिर है कि जेल को अपना मायका कहने वाली सुभद्रा के जेल जाने की नौबत फिर कभी नहीं आई।

अस्तु, 11 अगस्त, 1942 से 1 मई, 1943 तक कुल 8 महीने 22 दिन की अपने जीवन की अंतिम जेल यात्रा में बंदिनी सुभद्रा द्वारा रचित इस डायरी में उनकी जेल यातना, सेवावृत्ति, मानवीय संबंधों की झलक, अन्याय के विरोध में उनकी उग्रता एवं बीमारी आदि का मार्मिक विवरण मिलता है। आज यदि 'बंदिनी की डायरी' उपलब्ध होती तो निश्चय ही सुभद्रा के जेल जीवन के अनुभवों को विस्तारपूर्वक पढ़ने का अवसर पाठकों को मिलता। इस कृति का ऐतिहासिक महत्व इसलिए भी है कि हिंदी साहित्येतिहास में कदाचित किसी स्त्री की लिखी यह पहली डायरी थी।

❐❐

रामविलास शर्मा की स्क्रैप बुक्स-3 : लुडविग वैन बीथोवन

प्रस्तुति : विजय मोहन शर्मा

रामविलास शर्मा की स्क्रैप बुक्स लेख-माला की पहली और दूसरी किश्त के अंतर्गत आप हॉकी के विश्वविख्यात खिलाड़ी ध्यानचंद और उन्नीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध जर्मन कवि हायनरिख हाइने के बारे में क्रमशः पढ़ चुके हैं। डॉ. राम विलास शर्मा का संगीत से भी गहरा लगाव था, इस बात को पाठक भली-भांति जानते हैं। यही वजह है कि उनकी स्क्रैप बुक्स में संगीतज्ञ भी हैं। इस बार डॉ. विजय मोहन शर्मा पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत के एक शिखर पुरुष-बीथोवन-के संबंध में लिखी गई रामविलास शर्मा की टिप्पणी प्रस्तुत कर रहे हैं जो अद्‌भुत संगीत का सृजन करते रहे थे।

लुडविग वैन बीथोवन (16 दिसंबर 1770-26 मार्च 1827) एक जर्मन संगीतज्ञ और पियानो-वादक थे जिन्हें पाश्चात्य संगीत के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उन्हें शुद्ध शास्त्रीय संगीत और संगीत के रूमानी दौर के बीच की कड़ी माना जाता है बहुत से लोग तो मानते हैं कि उनके जैसा महान संगीतज्ञ आज तक दुनिया में पैदा नहीं हुआ।

जर्मनी के बौन शहर में 16 दिसंबर 1770 को जन्मे बीथोवन, बीस वर्ष की अपेक्षाकृत कम आयु में ही, वियेना चले गए थे और वहीं बस गए थे। वियेना में ही उन्होंने जोसेफ हैडेन से संगीत की शिक्षा ग्रहण की और बहुत जल्दी उनकी प्रसिद्धि एक विलक्षण प्रतिभाशाली पियानो-वादक के रूप में फैल गई। हालांकि जन्म लेने के कुछ वर्षों बाद से, यानी 1790 से ही, उनकी श्रवण-शक्ति कम होने लगी थी, फिर भी उन्होंने संगीत की संरचना और ऑर्केस्ट्रा निर्देशन करना जारी रखा। पूरी तरह बहरे हो जाने पर भी वह यह काम करते रहे और बड़े आश्चर्य की बात है कि यद्यपि वह अपनी संरचना स्वयं नहीं सुन पाते थे, फिर भी अद्‌भुत संगीत को जन्म देते रहे।

तो आइए, बीथोवन के जीवन में जरा गहराई और विस्तार से झांककर देखें कि उनके व्यक्तित्व में ऐसा क्या था जो राम विलासजी को पंसद आया और उन्हें स्क्रैप बुक में जगह दी गई।

बीथोवन की जीवन यात्रामः बीथोवन के दादाजी (पितामह, 1712-1773) लोडोविक वैन

बीथोवन, स्वयं एक संगीतज्ञ थे। बीथोवन का नाम उनके दादाजी पर ही रखा गया था।

दादाजी कोलोन के राज दरबार में संगीतज्ञ थे जो आगे चल कर राज्य के संगीत निर्देशक के पद पर पहुंचे। दादाजी के एक ही बेटा था, जोहान्न वैन बीथोवन (1740-1762), जो अपने पिता की संगीत मंडली में छोटा-मोटा काम किया करता था। अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए वह पियानो और वायलिन बजाना सिखाने का काम भी किया करता था। जोहान्न की शादी सन् 1767 में मारिया नाम की एक लड़की से हुई जो एक रसोइए की बेटी थी।

लुडविग का जन्म इस परिवार में संभवतः 16 दिसंबर 1770 को हुआ था। उनका बपतिस्मा 17 दिसंबर को हुआ, जिसका रिकॉर्ड उपलब्ध है। उन दिनों जन्म के अगले दिन ही बपतिस्मा कर देने का प्रचलन था, इसलिए यह मानना शायद गलत न होगा कि उनका जन्म 16 दिसंबर को हुआ होगा हालांकि जन्म-तिथि की कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। बीथोवन का परिवार और उनके अध्यापक उनका जन्म-दिन 16 दिसंबर को ही मनाते थे, इस बात से भी इसी जन्म-दिन की पुष्टि होती है।

जोहान्न और मारिया के सात बच्चे पैदा हुए थे, जिनमें से केवल तीन जीवित रहे। इन तीनों भाइयों में लुडविग सबसे बड़े थे।

लुडविग की प्रारंभिक संगीत शिक्षा घर में ही हुई। हालांकि लिखित रूप में इसकी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है, फिर भी एक विवरण के अनुसार बीथोवन के पिता बड़े सख्त संगीत-शिक्षक थे। बीथोवन को घंटों की-बोर्ड के पास खड़े रहने की सजा मिलती थी, जिससे उनकी आंखों से आंसू निकल पड़ते थे।

दूसरे विवरणों और उन अध्यापकों के अनुसार जिन्होंने बीथोवन को पियानो और वायलिन बजाना सिखाया था, वह बड़ी कुशाग्र बुद्धि वाले छात्र थे जो संगीत की बारीकियों को बहुत जल्दी पकड़ लेते थे। उन दिनों मोजार्ट का संगीत में बड़ा नाम था। उस स्तर पर संगीत में पैसा भी था। बीथोवन के पिता जोहान्न इस बात को जानते थे। उनकी कोशिश थी कि बेटे को बचपन से ही 'संगीत की दुनिया के एक करिश्मे' के रूप में प्रसिद्ध किया जाए-यहां तक कि मार्च, सन् 1778 में जब बीथोवन का पहला सार्वजानिक कार्यक्रम हुआ तो बालक की उम्र 6 वर्ष लिखाई गई, जबकि उसकी असली उम्र 7 वर्ष थी।

सन् 1776 के कुछ समय बाद, बीथोवन ने अपनी संगीत शिक्षा, बौन के मशहूर संगीत अध्यापक क्रिश्चियन गोतलोब नीफे के साथ शुरू की। नीफे तब तक दरबार में ऑर्गन-वादक के रूप में नियुक्त हो चुके थे।

सन् 1789 तक नीफे ने बीथोवन को संगीत की रचना करना सिखाया और उनकी प्रथम संगीत रचना प्रकाशित करवाई। बीथोवन ने पहले (सन् 1781 तक) बिना कोई वेतन लिए अपने अध्यापक के सहायक के रूप में ऑर्गन-वादक का काम किया, फिर दरबार के एक वेतनभोगी कर्मचारी की तरह।

बीथोवन ने अपने प्रथम तीन 'पियानो सोनाटा' सन् 1783 में प्रकाशित कराए। उनकी प्रतिभा से उस समय सभी प्रभावित थे। अब उन्हें आगे पढ़ाई करने के लिए राज्य सरकार से छात्र-वृत्ति मिलने लगी थी।

उन दिनों पड़ोसी देश ऑस्ट्रिया में बड़े परिवर्तन हो रहे थे। बौन में भी उनका असर दिखाई देता था। खास तौर से शिक्षा और कला पर जो जोर दिया जा रहा था, उससे बीथोवन बहुत प्रभावित थे। उनके शिक्षक नीफे भी इन नीतियों को समर्थन करते थे।

मार्च, सन् 1787 में बीथोवन पहली बार वियेना गए-संभवतः मोजार्ट से मिलने के लिए। इस बात के रिकॉर्ड उपलब्ध नहीं हैं कि उन लोगों की मुलाकात हुई या नहीं; इस बात के भी नहीं कि उनके आने-जाने का खर्चा किसने दिया था। वियेना पहुंचने के दो सप्ताह बाद ही बीथोवन को सूचना मिली कि उनकी मां गंभीर रूप से बीमार हैं। बीथोवन को तुरंत लौटना पड़ा।

कुछ ही दिनों बाद उनकी मां का देहांत हो गया।

बीथोवन के पिता ने, शायद 'गम से उबरने' के नाम पर अपने-आप को शराब के नशे में डुबा दिया। नतीजा यह हुआ कि अगले पांच वर्षों तक बीथोवन को अपने छोटे भाइयों की देखभाल के लिए, बौन में ही रहना पड़ा।

इन पांच वर्षों के दौरान बौन में बीथोवन अनेक परिवारों के संपर्क में आए। इनमें से एक परिवार ब्रूनिंग का भी था जिनके बच्चों को उन्होंने पियानो-वादन सिखाया। इस परिवार में बीथोवन को शास्त्रीय संगीत और साहित्य की पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। उस परिवार में वातावरण उनके अपने घर से कहीं कम तनावपूर्ण था, इसलिए बीथोवन का काफी समय वहां बीतता था।

सन् 1789 में, कोर्ट के आदेशानुसार, बीथोवन के पिता की आधी तनख्वाह उन्हें मिलने लगी, ताकि वह अपने भाइयों की परवरिश कर सकें। इसके अलावा, वह दरबार में वॉयला (बड़ा वॉयलिन) बजाने का काम भी करते थे जिससे कि कुछ और आमदनी हो सके।

दरबार में काम करने का एक लाभ यह भी हुआ कि बीथोवन बहुत सारे ऑपेराओं से परिचित हो गए। इनमें से एक ऑपेरा मोजार्ट का लिखा हुआ भी था।

सन् 1792 में, दरबार की मदद से, बीथोवन वियेना आ गए। जोसेफ हैडेन से उनकी मुलाकात बौन में ही हो चुकी थी, जब लंदन जाते हुए हैडेन 1790 में क्रिसमस के दिनों में कुछ समय के लिए वहां रुके थे। उसके बाद सन् 1792 में एक बार फिर हैडेन से मुलाकात का बीथोवन को अवसर मिला और संभावना है कि उस समय हैडेन के साथ पढ़ने की बात तय हो गई हो। इस बीच बीथोवन ने अनेक संगीत रचनाएं की, हालांकि वे प्रकाशित नहीं हुईं।

सन् 1792 में बीथोवन जब वियेना आए थे, उन दिनों एक अफवाह यह भी थी कि फ्रांस से युद्ध उफन कर आसपास फैल जाएगा। बहरहाल, वियेना आते ही बीथोवन को समाचार मिला कि उनके पिता का निधन हो गया है।

वियेना में मोजार्ट अब बीमार रहने लगे थे। कुछ लोग बीथोवन को मोजार्ट की कला के उत्तराधिकारी के रूप में देखते थे। इसका एक कारण यह भी था कि बीथोवन ने कुछ संरचनाएं उसी अंदाज में की थीं जो मोजार्ट के अंदाज से मिलता-जुलता था।

बीथोवन एकदम से छलांग लगाकर 'बड़े कलाकार' कहलाने और प्रसिद्धि पाने की कोशिश करने के समर्थक नहीं थे। वह बड़े धैर्यपूर्वक संगीत के अपने ज्ञान की अभिवृद्धि में संलग्न थे-शिक्षा द्वारा और नई-नई चीजें सीखकर। हैडेन के निर्देशन में वह पियानो-वादन पर महारत हासिल कर रहे थे, साथ ही शुपानजिग से वॉयलिन सीख रहे थे, इटली के अंटोनियो सिलेरी से

गायकी संबंधी रचना के 'गुर' बटोर रहे थे। यह काम सन् 1802 तक तो निश्चित रूप से चला. ..संभवतः 1809 तक भी।

सन् 1794 में हैडेन के लंदन वापस जाने के बाद, बौन दरबार उम्मीद करता था कि बीथोवन वापस आ जाएंगे किंतु बीथोवन वियेना में ही जमे रहे। उन्होंने वहीं अन्य नए शिक्षक ढूंढ़ लिए। उन्हें अब बौन से मिलने वाला वजीफा बंद हो गया। लेकिन तब तक वियेना के अनेक लोग उनकी प्रतिभा को पहचान चुके थे, और उन्होंने बीथोवन की वित्तीय सहायता करने का वादा किया।

वियेना में सन् 1793 तक बीथेवन की शोहरत हालांकि 'पियानो के जादूगर' जैसी हो गई थी और उन्होंने कुछ संगीत रचनाएं भी कर ली थीं, लेकिन उन्हें प्रकाशित नहीं किया था यह सोचकर कि सन् 1795 में सभी रचनाओं का प्रकाशन एक साथ ही करेंगे।

वियेना की जनता के सामने बीथोवन ने अपना पहला कार्यक्रम मार्च सन् 1795 में प्रस्तुत किया (हालांकि यह कहना मुश्किल है कि यह पहला कार्यक्रम था या दूसरा)। जो भी हो, इस कार्यक्रम के बाद ही उन्होंने अपनी रचनाओं को प्रकाशित कराया।

इस प्रकाशन से बीथोवन को इतनी आमदनी हुई कि उनका साल भर का खर्चा निकल आया।

सन् 1798 और 1802 के बीच बीथोवन ने संगीत संरचना की सर्वोच्च विधा-'स्ट्रिंग क्वार्टेट' और 'सिम्फनी' पर जोर दिया।

बीथोवन द्वारा सन् 1798 और 1800 के बीच प्रकाशित छह 'स्ट्रिंग क्वार्टेट' और 1800 तथा 1802 के बीच प्रकाशित दो 'सिम्फनी' के बाद लोग यह मानने लगे कि उदीयमान प्रतिभाशाली संगीत संरचनाकारों में, हैडेन और मोजार्ट की परंपरा में अगली कड़ी, बीथोवन ही हैं। इसके साथ ही वह 'पैथेटीक' जैसे 'पियानो सोनाटा' भी लिखते जा रहे थे। कूपर के अनुसार, यह 'सोनाटा' बीथोवन की लिखी तमाम संरचनाओं में श्रेष्ठतर था। सन् 1799 में बीथोवन ने 'सेप्टेट' पूरी की थी, जो उनके जीवनकाल की अत्यंत लोकप्रिय रचनाओं में से है।

अपनी पहली 'सिम्फनी' के उद्घाटन के लिए बीथोवन ने 2 अप्रैल 1800 के दिन बुर्ग थियेटर किराए पर लिया और संगीत का एक शानदार कार्यक्रम पेश किया जिसमें हैडेन और मोजार्ट की संगीत रचनाएं भी शामिल थीं। बीथोवन की पहली सिम्फनी 'सेप्टेट' थी और उनका एक 'पियानो कंसर्टो' भी था। उनकी ये संगीत रचनाएं उस समय तक अप्रकाशित थीं।

इस कार्यक्रम की सराहना 'बड़े लंबे अर्से बाद एक अच्छा कंसर्ट हुआ, 'कह कर की गई। मोजार्ट और हैडेन का प्रभाव तो बीथोवन पर था ही, उन पर कुछ अन्य संगीतकारों-जैसे क्लीमेंटो आदि-का भी असर था। लेकिन इन सब से हट कर बीथोवन की अपनी एक शैली थी; उनकी संगीत अभिव्यक्ति बड़ी संवेदनात्मक थी; स्वरों के उतार-चढ़ाव सबसे अलग थे।

सन् 1800 के अंत तक बीथोवन के संगीत की बड़ी मांग होने लगी थी, प्रकाशकों की ओर से भी और दरबार से भी।

यहां इस बात का उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि सन् 1799 में बीथोवन हंगेरी के राजघराने की कुछ लड़कियों को पियानो बजाना सिखाते थे। हालांकि यह संगीत-शिक्षा मात्र

एक महीने चली, लेकिन बीथोवन का नाता इस परिवार से जुड़ा रहा। बड़ी लड़की जोसफीन के साथ उनके संबंधों की चर्चा थी, लेकिन उसकी शादी एक राजघराने में हो गई और जब तक उसके पति का निधन नहीं हो गया, इन लोगों का संबंध परवान नहीं चढ़ने पाया।

बीथोवन ने कई अन्य लोगों को भी पढ़ाया, जिनमें कुछ अच्छे संगीतज्ञ भी बने, जैसे फर्डीनेन्ड रीस। फर्डीनेन्ड ने एक पुस्तक लिखी 'Beethoven Remembered' बीथोवन का दूसरा प्रतिभाशाली छात्र कार्ल जर्नी था जो स्वयं अच्छा संगीतकार बना और जिसने वियेना में बीथोवन के पांचवें कंसर्टो 'द एंपरर' का सन् 1812 में उद्घाटन करवाया।

सन् 1800 और 1802 के बीच, बीथोवन ने अन्य छोटे-बड़े कामों के अलावा, दो महत्वपूर्ण कार्य किए। 1880 में उनका बैले 'The Creatures of Prometheus' पूरा हुआ। इस प्रोग्राम को इतनी जबर्दस्त सफलता मिली कि उन्हें कई बार इसे प्रदर्शित करना पड़ा। 1802 में उन्होंने दूसरी सिम्फनी पूरी की।

इसका उद्घाटन एक बार घोषित होने के बाद छोड़ना पड़ा, जो फिर 1803 में वियेना के प्रमुख थियेटर में हुआ जहां बीथोवन की नियुक्ति अब एक संगीतज्ञ की तरह हो गई थी। इस कार्यक्रम की प्रतिक्रिया तो मिली-जुली हुई, लेकिन वित्तीय रूप से यह सफल रहा।

सन् 1802 में बीथोवन के संबंध अपने प्रकाशकों के साथ सुधरने लगे थे, जब उनके भाई कार्ल ने पूरी तरह से उनके मैनेजर के रूप में काम करना शुरू कर दिया। कार्ल की मदद से उनकी पहले की कुछ रचनाएं, जो अब तक अप्रकाशित पड़ी थीं, प्रकाशित होने लगीं।

बीथोवन का बहरापन : सन् 1796 के आस-पास से बीथोवन को कम सुनाई पड़ने लगा था। उनके कान में तीखी घंटी-सी बजने लगती थी, जिसके कारण वह न तो संगीत सुन सकते थे और न उसकी सराहना कर सकते थे यहां तक कि वह बातचीत करने से भी कतराने लगे थे। उनके बहरेपन का सही कारण तो ज्ञात नहीं है, लेकिन सिफलिस, लेड (सीसा) प्वायजनिंग, टाइफस आदि-आदि की संभावना बताई गई। सीसे के कारण उनके कान में एक घाव हो गया था। बीथोवन के बालों में भी सीसा पाया गया, जिससे इस स्थापना की पुष्टि होती है।

बहरेपन का असर उनके व्यावसायिक और सामाजिक जीवन, दोनों पर पड़ रहा था। डॉक्टर की सलाह पर वह वियेना के बाहर एक छोटे से गांव में रहे (1802 में, अप्रैल से अक्टूबर तक), ताकि अपनी इस बीमारी पर काबू पा सकें। पर इस हालत में भी संगीत रचना का उनका अपना काम जारी रहा। यह एक जानी-मानी घटना है कि नौवीं सिम्फनी के उद्घाटन के समय, कार्यक्रम पूरा होने पर, श्रोताओं की करतल ध्वनि उन्हें सुनाई नहीं दी और वह यह सोच कर रोने लगे कि जनता ने कार्यक्रम को पसंद नहीं किया। और तब, उनको घुमाया गया ताकि वह स्वयं जनता को कार्यक्रम की सराहना में तालियां बजाते देख सकें।

बीथोवन से संबंधित अनेक चीजें, जैसे कान में लगाने का उनका भोंपू आदि, उनके नाम से जुड़े संग्रहालय (बीथोवन म्यूजियम) में रखी हैं।

बीथोवन के बहरेपन का एक लाभ यह हुआ कि अपने मित्रों से उनका संवाद लिखित रूप में होने लगा। उनके मित्र उनसे जो कहना चाहते थे, वह एक पुस्तकाकार कॉपी में लिख देते थे। बीथोवन उसका उत्तर लिखित या मौखिक रूप से देते थे। इन पुस्तिकाओं में अनेक

वाद-विवाद, संवाद दर्ज हैं, जिनसे संगीत पर उनकी पकड़ और गहराई से सोचने की उनकी क्षमता का पता चलता है। दुर्भाग्यवश, ऐसी लगभग 400 पुस्तिकाओं में से 264 उनकी मृत्यु के बाद नष्ट कर दी गयीं, क्योंकि उनके बाद के लोग उन्हें एक आदर्श संगीतज्ञ की तरह पेश करना चाहते थे।

बीथोवन के जीवन का मध्य काल : गांव से लौटने पर बीथोवन ने अपनी शैली में परिवर्तन किया। इस अवधि को लोग 'मध्य काल' कहते हैं। बीथोवन ने कहा भी था कि अभी तक के अपने काम से मैं संतुष्ट नहीं हूं।

नई शैली में उनका पहला प्रमुख काम तीसरी सिम्फनी या 'इरोइका' है। यह उनकी अन्य सिम्फनियों के मुकाबले कहीं ज्यादा लंबी थी और इसमें कहानी जैसा कुछ नहीं था।

इस दौर में बीथोवन ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने जो कुछ हैडेन और मोजार्ट से सीखा था, उसे आगे बढ़ाया : उन्होंने तीसरी से लेकर आठवीं सिम्फनी, 7-11 स्ट्रिंग क्वार्टेट, एक ऑपेरा, एक वॉयलिन कंसर्टो और अनेक संगीत रचनाओं को जन्म दिया। इस दौरान किए गए काम के कारण बीथोवन की ख्याति एक बड़े संगीतकार के रूप में फैल गई।

सन् 1810 में उन्हें सर्वोच्च रूमानी संगीतकार के रूप में सराहा गया। हॉफमैन ने बीथोवन की पांचवीं सिम्फनी को उस अवधि का सबसे महत्वपूर्ण योगदान बताया।

बीथोवन को उस समय एक बड़ा मानसिक झटका लगा था, जब मई 1809 में नेपोलियन की फौजों ने वियेना पर बमबारी की थी। बीथोवन को डर था कि इस बमबारी के धड़ाकों के कारण, सुनने की उनकी बची-खुची ताकत भी जाती रहेगी। इस भय की वजह से वह अपने भाई के तहखाने में छिपकर बैठे रहते थे और तकियों के बीच अपने कान दबा लेते थे।

उन दिनों वह कंसर्टो 'एंपरर' पर काम कर रहे थे।

निजी मुश्किलें और पारिवारिक कठिनाइयां : बीथोवन चूंकि दरबारों में अक्सर बजाते थे और उनके घराने के बच्चों को पढ़ाते थे, उनके सम्पर्क में जो लड़कियां आईं, वे भी राजसी खानदान की थीं। बीथोवन एक सामान्य परिवार से थे, इसलिए उनकी शादी उन घरानों में नहीं हो पाई।

सन् 1811 में बीथोवन गंभीर रूप से बीमार हो गए और लंबे समय तक कोई विशेष काम नहीं कर पाए। सन् 1813 में जब नेपोलियन की सेना स्पेन में ड्यूक ऑफ वेलिंग्टन से हार गई, तो बीथोवन को एक बार फिर जोश आया।

बीथोवन ने युद्ध पर आधारित एक सिम्फनी लिखी जिसका नाम था 'वेलिंग्टन की विजय'। इसे उन्होंने अपनी सातवीं सिम्फनी के साथ प्रस्तुत किया। कार्यक्रम अत्यंत लोकप्रिय हुआ और उससे उत्साहित होकर बीथोवन ने अपने ऑपेरा को दुबारा से ठीक करना शुरू किया।

बीमारी और भतीजे के संरक्षण का दायित्व : सन् 1815 और 1817 के बीच बीथोवन फिर बीमार रहे। इस बीच उनके भाई कार्ल का भी देहांत हो गया था। कार्ल की पत्नी अपने बच्चे का ठीक तरह से ध्यान नहीं रखती थी और बीथोवन बच्चे को अपने पास रखने के लिए कानूनी लड़ाई लड़ रहे थे। अंततः बीथोवन जीत गए और कानूनी तौर पर उसे अपने पास रखने में सफल हो गए लेकिन वह यहां भी तंग आकर फौज में भर्ती हो गया।

अंतिम रचना काल : बीथोवन ने अंतिम समय में बाख और हैंडेल के संगीत का अध्ययन आरंभ किया। इन दिनों उन्होंने एक नई संगीत रचना 'मिसा' पर काम शुरू किया। कुछ वर्षों तक उन्होंने इसके लिए पियानो सोनाटा लिखे, और 'मिसा' पूरा किया।

बीथोवन ने अपने अंतिम क्वार्टेट गंभीर बीमारी की अवस्था में लिखे। अप्रैल, सन् 1825 से वह बिस्तर से उठ नहीं पाते थे। फिर भी उन्होंने तेरहवें, चौदहवें और सोलहवें क्वार्टेट पूरे किए।

उनकी एक अंतिम संरचना तेरहवां क्वार्टेट थी, जिसके तुरंत बाद दिसंबर, सन् 1826 से उन्हें बीमारी ने फिर से जकड़ लिया। उन्हें उल्टी और दस्त होने लगे।

मृत्य : जीवन के अंतिम महीनों में बीथोवन बिस्तर से लग गए थे। 26 मार्च, 18 को एक तूफान के समय में उनका देहांत हुआ। उनके एक मित्र के अनुसार, उनकी मृत्यु के समय बड़े जोर से बिजली कौंधी थी। शव परीक्षा से पता चला कि जिगर की खराबी की वजह से मृत्यु हुई है; अधिक शराब पीना भी इसका कारण हो सकता है।

मोजार्ट की जब मृत्यु हुई, तो उन्हें एक सामूहिक कब्र में, जैसा कि उन दिनों प्रचलन था, दफनाया गया था। इसके बरअक्स बीथोवन को, होली ट्रिनिटी चर्च में एक प्रार्थना सभा के बाद, वाहरिंग के कब्रिस्तान में दफनाया गया। इतना ही नहीं, 26 मार्च 1827 को जब बीथोवन की शव-यात्रा निकली, तो उस समय लगभग 20,000 वियेना-निवासी उनके सम्मान में सड़कों पर खड़े थे।

सन् 1862 में बीथोवन के मृत शरीर को फिर से निकाला गया (उस पर कुछ अनुसंधान करने के लिए) और सन् 1888 में उसे वियेना के केंद्रीय कब्रिस्तान में जगह दी गई।

बीथोवन का चरित्र : बीथोवन की निजी जिन्दगी में परेशानियां रही थीं, खास तौर से बढ़ते हुए बहरेपन के कारण-यहां तक कि उन्होंने आत्महत्या कर लेने की भी सोची थी। वह पेट के दर्द से भी परेशान रहते थे जो संभवतः सीसे की मात्रा की अधिकता के कारण होता होगा। किंतु उनके करीबी और मददगार दोस्तों की कमी नहीं थी। यह उनके व्यक्तित्व के आकर्षण के कारण था।

जीवन के अंत समय में भी उनके दोस्तों ने उनका साथ नहीं छोड़ा और हरसंभव सहायता करके तमाम कष्टों और पीड़ा पर काबू पा सकने में उनकी मदद की।

बीथोवन को सत्ता के सामने अनावश्यक रूप से झुकना अच्छा नहीं लगता था। समाज के तथाकथित 'बड़े लोगों' के लिए उनके मन में कोई विशेष आदर भाव नहीं था। अगर वह पियानो बजा रहे हों और श्रोता आपस में बातें करने लगें तो वह बजाना बंद कर देते थे। अगर श्रोताओं में से किसी का ध्यान इधर-उधर हुआ, तो भी वह अपनी नाराजगी किसी न किसी रूप में जाहिर कर देते थे। अगर उनसे अचानक किसी प्रोग्राम में आने, या वादन करने का कहा जाता था, तो वह मना कर देते थे। दरबारों में प्रचलित फर्शी सलामों व खुशामदी व्यवहार से वह नफरत करते थे। उनके इस भाव को देखकर, आर्चड्यूक रडोल्फ ने घोषणा करवा दी थी कि दरबार में व्यवहार के सामान्य नियम बीथोवन पर लागू नहीं होंगे।

बीथोवन के धार्मिक विचार : बीथोवन 'एनलाइटेन्मेंट' के सिद्धांत से प्रभावित थे। सन् 1804

में जब नेपोलिन के साम्राज्यवादी इरादे स्पष्ट हो गए थे, बीथोवन ने अपेनी तीसरी सिम्फनी के मुखपृष्ठ पर लिखे बोनापार्ट का नाम इतने जोर से खुरचा कि कागज में छेद हो गया। बाद में उन्होंने उसका नाम बदलकर 'हीरोइक सिम्फनी, एक महान् आत्मा को याद को स्मरण करते हुए' रख दिया और उसे राजकुमार जोसेफ फैंज को समर्पित कर दिया जिनके महल में इसे सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया था।

उनकी नौवीं सिम्फनी के चाथे चरण में एक रचना 'ओड टु ज्वाय' इंसानियत और भाईचारे की प्रशंसा में लिखी गई है।

बीथोवन का संगीत : बीथोवन की गणना शास्त्रीय संगीत की महान हस्तियों में की जाती है। अक्सर उनके नाम तीन बड़े Bs में लिया जाता है बाख और ब्राह्म के साथ-जो परंपरा के सिरमौर माने जाते हैं।

बीथोवन को 18 वीं सदी के 'शुद्ध शास्त्रीय संगीत' और 19 वीं सदी के 'रूमानी संगीत' के बीच की धुरी और कड़ी माना जाता है। आने वाली पीढ़ियों पर उनका प्रभाव गहरा और दूरगामी पड़ा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

सारांश : बीथोवन ने कई तरह की संगीत संरचनाएं की। उन्होंने तरह-तरह के वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया। उन्होंने नौ सिम्फनी रचीं (जिनमें से अंतिम में एक कोरस भी था) और लगभग एक दर्जन दूसरे अवसरों पर प्रयुक्त होने वाला संगीत, उन्होंने सात कंसर्टो लिखे, इसके अलावा, चार लघु संरचनाएं भी कीं। उनका एकमात्र ऑपेरा 'फिडेलियो' था, जिसमें वाद्ययंत्रों के प्रयोग थे। उनके द्वारा की गई संरचनाओं में 32 पियानो सोनाटा थे और अनेक छोटे-छोटे टुकड़े।

पियानो के साथ-साथ उनके 10 वॉयलिन के सोनाटा और अनेक छोटी रचनाएं, 5 सेलो सोनाटा, फ्रांसीसी 'हॉर्न' के लिए एक सोनाटा तथा अनेक गेय संगीतबद्ध कविताएं थीं।

बीथोवन ने काफी मात्रा में 'चैंबर म्यूजिक' भी लिखा।

इनके अतिरिक्त, उन्होंने 16 क्वार्टेट, पंच स्ट्रिंग क्वार्टेट, सात पियानो ट्रायो, एक दर्जन हवा से बजने वाले वाद्ययंत्रों के लिए संगीत रचना भी की।

बीथोवन के सर्जनात्मक जीवन के तीन मुख्य खंड : बीथोवन के रचना काल को तीन प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है पहला, सन् 1802 तक का; दूसरा, 1803 से 1814 तक का; और तीसरा, 1815 से अंत समय तक का।

पहले रचना काल में बीथोवन पर हैडेन और मौजार्ट का असर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, हालांकि वह नए-नए अनुसंधान करते चलते हैं। इस काल की उनकी रचनाओं में पहली और दूसरी सिम्फनी तथा 6 स्ट्रिंग क्वार्टेट, पहले दो पियानो कंसर्टो और प्रथम 12 पियानो सोनाटा प्रमुख हैं।

उनका बीच का रचना काल, उनकी बढ़ती कठिनाइयों और बहरापन आने की परेशानी से संबद्ध है। इसमें उनके संघर्ष और चरित्र की दृढ़ता परिलक्षित होती है। इस काल की उनकी संरचनाओं में 6 सिम्फनी (3-8), अंतिम तीन पियानो कंसर्टो, पांच सिट्रंग क्वार्टेट (7-11), पियानो सोनाटा ('मून लाइट', आदि) और एकमात्र ऑपेरा 'फिडेलिओ' उल्लेखनीय हैं।

बीथोवन का अंतिम रचनाकाल सन् 1815 से आरंभ होता है। इस रचनाकाल में उनकी

बौद्धिक गहराई, उनका औपचारिक प्रदर्शन, साथ ही अत्यंत गहन संवेदनापूर्ण चित्रण दिखाई देता है। नौवीं सिम्फनी, अंतिम पांच पियानो सोनाटा, पांच स्ट्रिंग क्वार्टेट आदि इनमें प्रमुख हैं।

बीथोवन पर फिल्मः बीथोवन पर अनेक फिल्में बन चुकी हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं-

1946 में Eroica जो केंस फिल्म फेस्टिवल में दिखाई गई।

1962 में वाल्ट डिजनी ने The Magnificient Rebel बनाई।

1994 में उन पर Immortal Beloved बनी।

2003 में उन पर BBC द्वारा फिल्म बनाई गई।

2005 में BBC द्वारा ही तीन हिस्सों में फिम बनाई गई।

2006 में Copying Beethoven बनी।

बीथोवन की मूर्तियां : बीथोवन की 75 वीं वर्षगांठ पर अगस्त सन् 1845 में बौन में उनकी एक मूर्ति का अनावरण किया गया। जर्मनी में, यह किसी भी संगीतज्ञ की पहली मूर्ति थी। और, इस अवसर पर एक भव्य संगीत समारोह का भी आयोजन किया गया। इसके बाद साल्जबुर्ग, ऑस्ट्रिया, में सन् 1842 में उनकी मूर्ति लगाई गई और फिर वियेना में सन् 1880 में।

❐❐

लेखकों से अनुरोध

- वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनीकोड/मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।
- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं

संपादक, बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो. नं.- 09422386554

ब्रांड और उपभोक्तावादी संस्कृति

संजय सिंह बघेल

ऊपर दिए गए बहुरंगी चित्र देखने में किसी न किसी कंपनी के प्रतीक चिह्न लगते हैं, लेकिन ये प्रतीक चिह्न सिर्फ किसी कंपनी की पहचान को उजागर नहीं करते अपितु किसी कंपनी के संपूर्ण दर्शन, उद्देश्य, गुणवत्ता और उसकी दृष्टि का बखान भी करते हैं। सिर्फ कुछ प्रतीक से महसूस होने वाले इन प्रतीक चिह्नों में पूरे कंपनी का वह संदेश और ध्येय वाक्य छिपा होता है जो वह अपने उपभोक्ताओं को इसके माध्यम से देना चाहते हैं। ये प्रतीक और इसके साथ लिखे कुछ शब्द ही किसी कंपनी या संस्था का विज्ञापन करने के लिए काफी होते हैं। विज्ञापन की भाषा में कहे तो प्रतीकों का यह संदेश ही ब्रांड कहलाता है।

वास्तव में ब्रांड ही वह तत्व हैं जिसके माध्यम से कोई भी संस्था या कंपनी अपने उत्पाद या सेवा की मुहमांगी कीमत वसूल कर सकती है। परिभाषित शब्दों में कहे तो 'एक ब्रांड नाम वास्तव में किसी विशेष उत्पाद, सेवा अथवा व्यवसाय की पहचान का नाम है।'[2] जिसे आज के जमाने के नव धनाढ्य कहे या मध्यमवर्गीय समाज अदा कर अपने आप को ब्रांडेड कंपनी का

उपभोक्ता कहलाना पसंद करता है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ाने का काम ब्रांड करता हैं, क्योंकि 'ब्रांड के मालिक अथवा इसे पॉपुलर करने वाले व्यक्ति को पता होता है कि एक ब्रांड को क्या होना चाहिए और वह उपभोक्तायों से क्या अपेक्षा रखता है।'[3] कैसे एक ब्रांड धीरे-धीरे ब्रांडिंग का रूप ग्रहण कर लेता है। इसे समझने के लिए हमें ब्रांडिंग कि संपूर्ण अवधारणा को समझना होगा।

ब्रांड का इतिहास

यूं तो ब्रांडिंग का इतिहास सदियों पुराना है। जिसका उपयोग एक उत्पाद को दूसरे स्थान तक पहुंचाने के लिए एक प्रतीक के रूप में किया जाता था ताकि उसकी पहचान आसानी से की जा सके। 'ब्रांड' शब्द कि उत्पत्ति पुराने नोर्से (Norse) शब्द 'ब्रांदर' (Brander) से हुई है। जिसका अर्थ है दागना या जलाना (Burn)। दागने से यह तात्पर्य एक ऐसे विशेष प्रतीक चिह्न से है, जिसके माध्यम से किसी उत्पाद की पहचान की जा सके।[4]

ब्रांड का वास्तविक इतिहास ऐसे शिल्पकारों एवं मजदूरों से जुड़ा हैं जो शिल्प का काम करते थे या मंडियों में मजदूरी करते थे। उनके उत्पादों को ग्राहकों द्वारा आसानी से पहचाना जा सके, इसलिए उन्होंने एक प्रतीक चिह्न का विकास किया जो आगे चलकर उनके ग्राहकों के लिए यही ब्रांड में तब्दील हो गया। ब्रांडिंग अथवा ट्रेडमार्क (Trademark)[5] की शुरुआत ऐसे ही शिल्पकारों के मिट्टी के बर्तनों और पत्थरों से बनी कलाकृतियों में उकेरे गए प्रतीकों से ही हुई थी, जिसे बाद में हस्तशिल्प कलाओं से बनी वस्तुओं में स्रोत की पहचान के लिए प्रयोग किया गया। ब्रांड का प्रारंभिक इतिहास 1300 ईसा. पूर्व के लगभग चीन में बने चीनी मिट्टी के बर्तनों, प्राचीन ग्रीक एवं रोम में बने मिट्टी के बर्तनों एवं भारत में बने बर्तनों में इस प्रकार के चिह्न मिलते हैं।[6]

सन 1860 में तंबाकू उत्पादक कंपनियों ने अपने उपभोक्ता को सीधे छोटे बैगों में अपने उत्पादों को बेचने के लिए प्रतीक चिह्न का प्रयोग किया परिणामस्वरूप जिसे बाद में आकर्षक पैकेटों में चित्रात्मक लेबलों, सुसज्जित प्रतीकों, सिंबलों एवं लोगो के साथ भेजा जाने लगा। इस प्रकार ब्रांड की विधिवत शुरुआत हो गई।

सन 1900 के आसपास जेम्स वाल्टर थौमसन ने एक गृह पत्रिका में विज्ञापन को व्याख्यायित करते हुए कहा ''व्यावसायिक विवरणों का विस्तृत दौर इसी समय प्रारंभ हुआ, जब कंपनियों ने स्लोगन, चिह्न एवं जिंगल के माध्यम से अपने उत्पादों का प्रचार रेडियो और टेलीवीजन में देना प्रारंभ किया।''[7]

ब्रांड क्या है?

पारिभाषिक शब्दों में कहें तो एक ब्रांड अपने प्रतिस्पर्धियों से भिन्न दिखने के लिए अपने उत्पादों को एक विक्रेता अथवा विक्रेताओं के एक समूह को विशिष्ठ पहचान दिलाने के लिए किसी नाम,अक्षर, प्रतीक, डिजाइन अथवा अक्षरों के एक समन्वय से बनाया गया एक संपूर्ण प्रतीक है। अर्थात एक ब्रांड के निर्माण के लिए अपने उत्पाद एवं सेवाओं को अपने समकालीनो

से अलग दिखाने हेतु प्रयोग किए जाने वाले पहचान एवं संकेत को किसी नाम, लोगो, प्रतीक, पैकेज डिजाइन के माध्यम से संकेत के रूप में अभिव्यक्ति करनेवाले चिह्न से है। हम उक्त सभी प्रतीकों को ब्रांड के कारक तत्व कह सकते हैं।

मार्केटिंग की भाषा में ब्रांड एक ऐसे तत्व का नाम है जिसके माध्यम से एक उपभोक्ता को इस बात का पता चलता है कि कौन सी वस्तु उसकी जरूरतों को पूरा कर पाएगी या नहीं।[8] साथ ही समय की बचत, निर्णय लेने में आसानी तथा वस्तु कि मूल्यवत्ता का भी इससे आसानी से पता लगाया जा सकता है।[9] किसी भी कंपनी या संस्था की कीमत का आकलन, उत्पाद की गुणवत्ता, इसके फीचरों और विशिष्टताओं का पता लगाने में भी ब्रांड उपयोगी सिद्ध होते हैं।[10]

कुल मिलाकर ब्रांड से उत्पाद की गुणवत्ता के संदर्भ में उपभोक्ताओं के विचार, विश्वसनीयता को सुधारा जा सकता है। इसके अलावा अधिकतम मूल्य, बाजार की नियामक संस्थाओं का सहयोग, मार्केटिंग संचार में प्रभावशीलता तथा बाजार में अपनी दृश्यात्मकता को भी बढ़ाया जा सकता है।[11]

ब्रांड के मूलतत्व

ब्रांड के उपरोक्त तत्वों को विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। गौरतलब बात यह है कि अपवादों को छोड़ दें तो प्रायः सभी बड़ी कंपनियां एवं संस्थाएं अपने उत्पादों एवं सेवाओं के प्रकारों को ध्यान में रखकर ही ब्रांड का निर्माण करती हैं। कुछ मामलों में एक कंपनी अपने सभी उत्पादों के लिए एक ही ब्रांड का उपयोग करते हैं। यथा : वाल मार्ट (Wall Mart), हुवार्द पैकार्द (Hewlett Packard), टाटा (TATA), एसबीआई (SBI), बीपीएल (BPL)। कुछ अन्य मामलों में निर्माता अपने नए उत्पादों के लिए एक नया ब्रांड निर्मित करते हैं। जो कि कंपनी के मूल ब्रांड से बिल्कुल अलग हो सकता है। यथा : हिंदुस्तान लीवर लिमिटेड का लाइफबॉय (Lifeboy), सर्फ, लक्स, आदि। प्रॉक्टर एवं गैंबल (Procter & Gamble) का अपो, टाइड (Tide) आदि। खुदरा निर्माता अपने नए स्टोरों के लिए अथवा अन्य कारणों के लिए अपना एक अलग ब्रांड नाम बनाते हैं (जैसे बिग बाजार, फेम यद्लाब्स, फूड प्लाजा, बॉम्बे स्टोर आदि।

उत्पादों के लिए दिए गए नाम भी ब्रांड के ही रूप हो सकते हैं। ब्रांड का नाम व व्यक्ति, स्थान, एवं वस्तु, अमूर्त प्रतीकों एवं अन्य माध्यमों पर भी आधारित हो सकता है। कुल मिलकर ब्रांड का निर्माण अपने उत्पादों को बेचने के लिए तैयार किए गए कारकों की प्रभावशीलता एवं उपभोक्ता की रुचियों को ध्यान में रखकर किया जाता है।

ब्रांड के तत्व किसी भी उत्पाद के ब्रांड निर्माण में कई तरह से भूमिका निभाते हैं।[12] मसलन किसी भी उत्पाद की पहचान एवं स्मरण को विवरणात्मक तथा प्रभावी ढंग से उपभोक्ता को याद दिलाने का काम करते हैं। साथ ही ये उत्पाद की ब्रांड इक्विटी को बढ़ाने का भी काम करते हैं।[13]

ब्रांड बनाम उत्पाद

यहां यह समझना अति आवश्यक है कि एक ब्रांड और उत्पाद में क्या अंतर है? सीधे

और सरल शब्दों में कहे तो उपभोक्ता की रुचियों एवं इच्छाओं को आकर्षित करनेवाले ऐसे किसी भी वस्तु को उत्पाद कह सकते हैं जो उनकी दैनंदिन जरूरतों को पूरा करती हो। इससे भी बढ़कर एक उत्पाद में उच्च गुणवत्ता, उत्कृष्ट प्रदर्शन एवं महत्वपूर्ण फीचरों का आज के प्रतिस्पर्धी युग में होना भी जरूरी है।[14] यह उत्पाद किसी भी चीज का हो सकता है। मतलब यह उत्पाद मौलिक पदार्थ के रूप में हो सकता है (जैसे : साबुन, सौंदर्य प्रसाधन वस्तुएं, डिटरजेंट, टूथपेस्ट इत्यादि), सेवा के रूप में (बैंक, जीवन बीमा कंपनी एवं एयर लाइंस इत्यादि), खुदरा स्टोर (जैसे बिग बाजार, मॉल्स, सुपर मार्केट, अपना बाजार इत्यादि), व्यक्ति (जैसे राजनैतिक व्यक्ति, मनोरंजनकर्ता अथवा पेशेवर खिलाड़ी) संस्था (स्वयंसेवी संस्था), स्थान (जैसे : शहर, राज्य एवं देश)।[15]

उपरोक्त ब्रांडों को यदि हम विस्तार देना चाहें तो इसका स्वरूप इस प्रकार हो सकता है यथाः उपभोक्ता वस्तुएं (जैसे : ब्रिटानिया, गुड डे, फेयर एवं लवली, टाइड, निरमा आदि), सेवादाई संस्थाएं (जैसे : बैंक ऑफ बड़ौदा, जीवन बीमा एवं जेट एयरवेज), एक स्टोर (बिग बाजार, अपना बाजार, स्पेन्सर), एक व्यक्ति (महेंद्र सिंह धोनी, अमिताभ बच्चन, राहुल गांधी), एक संस्था(दिल्ली विश्वविद्यालय, रेडक्रॉस, बैंक ऑफ अमेरिका), स्थान (मुंबई सिटी, भारत, लंदन सिटी)।

कंपनियों अथवा संस्थाओं द्वारा निर्मित किए गए ब्रांड नाम का कुल मिलाकर उद्देश्य होता है इसके माध्यम से अपने उत्पादों को बेचना। प्रसिद्ध सीमियोलोजिस्ट लांका का कहना हैं 'यदि आपकी कंपनी का ब्रांड आपके उत्पाद को बाजार में नहीं बेच सकता तो वह ब्रांड है ही नहीं।' ब्रांड का मतलब ही यही होता है कि वह कंपनी के पण्य को पूंजी में बदल दे। सारांश रूप में कहे तो ब्रांड एक ऐसा बहुमूल्य, नाजुक पदार्थ है जिसको बहुत ही सावधानीपूर्वक प्रयोग करने की जरूरत होती है।

ब्रांड के तत्व (Brand Elements)

ब्रांड के मुख्य तत्व होते हैं ब्रांड नाम, प्रतीक, संकेत, अक्षर, जिंगल, पैकेजिंग, आदि। ब्रांड तत्व का अर्थ है उत्पाद एवं सेवा से संबंधित सूचना एवं संदेश को मजबूती, आकर्षक एवं प्रभावशाली ढंग से उसके उपभोक्ता तक पहुंचाना। ब्रांड तत्व का मतलब ही यही होता है की कोई भी उपभोक्ता उसके सिर्फ ब्रांड से उसके उत्पाद एवं सेवा के बारे में जान ले। इस प्रकार एक ब्रांड के कई कारक तत्व हो सकते हैं जो कि निम्नलिखित हैं :

1. ब्रांड नाम :

ब्रांड नाम का सीधा और सरल अर्थ है जो उत्पाद एवं सेवा तथा उससे संबंधित कार्यों के बारे में उसके गुणों के आधार पर उसे प्रभावी ढंग से अभिव्यक्ति कर सके। ब्रांड नाम हमेशा 'छोटा' एवं सम्प्रेषणीय होना चाहिए। ब्रांड नाम को इतना अधिक संप्रेषणीय होना चाहिए कि वह उपभोक्ता के मस्तिष्क में तुरंत उतर जाए। क्योंकि ब्रांड नाम उपभोक्ता के मस्तिष्क से बहुत गहरे स्तर से जुड़ा होता है। साथ ही ब्रांडिंग का निर्धारण उत्पाद की संपूर्ण विशेषताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है[16] जैसे आई.सी.आई.सी.आई. बैंक (ICICI Bank) एक ब्रांड नाम के लिए अच्छा उदाहरण हो सकता है।

2. प्रतीक और संकेत

सामान्यतः जब हम किसी पुस्तक को पढ़ रहे होते हैं तो उसमें से जो सबसे महत्वपूर्ण वाक्य या अक्षर होता है उसे हम कलर पेन या पेंसिल से रेखांकित कर देते है या गोलाकार निशान लगा देते हैं। जिसको उपभोक्ता उसके रंग एवं रूप के आधार पर पहचान सके। यही प्रतीक कहलाता है। समूचे संचार माध्यम में यह एक प्रतीक का परिचायक है। मसलन आकार एवं रंग के मिश्रण के एक संपूर्ण स्वरूप का नाम लोगो (Logo) है। जैसे बैंक ऑफ बड़ौदा का लोगो-उदय होता हुआ सूर्य (The Rising Sun)।

प्रतीक उपभोक्ता के लिए संप्रेषणीयता का सबसे सशक्त माध्यम होता है। समग्र बाजार में से अस्सी प्रतिशत जनता या उपभोक्ता किसी भी कंपनी की पहचान उसके लोगों से ही करती हैं, क्योंकि यह लोगो उनकी स्मृतियों एवं भावनाओं से जुड़ा हुआ होता है। प्रायः एक लोगो दो चीजों से बनकर बना होता है। एक प्रतीक एवं उससे जुड़ा हुआ संदेश। जब हम किसी भी लोगो से उसके संदेश या ध्येय वाक्य को निकाल लेते हैं तो यही लोगो संकेत (symbols) का रूप धारण कर लेता है।

3. अक्षर अथवा चरित्र (Characters)

ब्रांड की अवधारणा में अक्षर का भी बहुत महत्व है। जब कोई अक्षर किसी विशेष प्रकार का संकेत देने लगता है तो यह अक्षर ही उसका ब्रांड बन जाता है जैसे क्राई (CRY)। ब्रांड तत्व का यह कारक चरित्र रूप में भी प्रकट हो सकता है। कुछ ब्रांड चरित्रों को विशेष प्रकार से चित्रात्मक रूप में निर्मित करके प्रस्तुत किया जाता है, जैसे केल्विनेटर के लिए पेंगुइन, एयर इंडिया के लिए महाराजा, अमूल के लिए अमूल गर्ल आदि।

4. स्लोगन (Slogan)

ब्रांड के संदर्भ में स्लोगन का महत्व उसके विवरणात्मक एवं सूचनात्मक मुहावरे के रूप में किया जाता है। स्लोगन को विशेष विज्ञापन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। कई बार इसे पैकेजिंग एवं मार्केटिंग के अन्य कार्यक्रमों में भी इसका उपयोग किया जाता है क्योंकि ब्रांडिंग उपकरण के लिए स्लोगन एक महत्वपूर्ण कारक है। मतलब ब्रांड इक्विटी निर्मित करने में जिस प्रकार ब्रांड नाम महत्वपूर्ण कारक है वैसे ही ब्रांड के अर्थ को समझने में स्लोगन का काम महत्वपूर्ण संदेश के रूप में होता है। अर्थात ब्रांड क्या है? ब्रांड में विशेषता क्या है? यह बताने का काम करता है, स्लोगन। जैसे बैंक ऑफ बड़ौदा के लिए 'भारत का अंतरराष्ट्रीय बैंक' (India 's International Bank), कोक ठंडा मतलब कोका कोला, ब्रितानिया ईट हेल्थी, थिंक बेटर, (Eat Healthy, Think Better), जीवन बीमा जीवन के साथ भी, जीवन के बाद भी।'

5. जिंगल्स (जिंगल्स)

ब्रांड के संबंध में लिखे गए संगीतात्मक धुन को विज्ञापन की दुनिया में जिंगल्स के नाम से जाना जाता है। जिंगल में प्रायः इस बात को ध्यान में रखकर लिखा जाता है की वह उत्पाद

एवं सेवाओं की विशेषताओं एवं भावनाओं को उद्घाटित करता है या नहीं। जिंगल की ग्राह्य (Catchy) एवं मधुर लाइन उपभोक्ता की स्मृतियों को कुरेदती है और उपभोक्ता जैसे ही इस विज्ञापन को दोबारा देखता है तो उसके स्मृतियों में बसी हुई उस वस्तु की तस्वीर साकार हो जाती है। वह अनायास ही उस वस्तु के काफी करीब महसूस करने लगता है। जैसे दो दशक पहले निरमा का यह जिंगल जब सामने आया

'सबकी पसंद निरमा,
दूध-सी सफेदी निरमा से आए,
रंगीन कपड़ा खिल-खिल जाए,
सबकी पसंद निरमा।'

तब यह जिंगल गांव, देहात से लेकर शहर तक के लोगो में वाशिंग पावडर निरमा का यह जिंगल लोगों की जुबान पर इस कदर चढ़ा कि उसने पहले से बाजार में बिक रहे सर्फ के पूरे बाजार को तोड़कर रख दिया।

6. पैकेजिंग (Packaging)

पैकेजिंग का अर्थ उत्पाद से संबंधित रखरखाव, सुरक्षा एवं आकर्षक ढंग से उसके अभिव्यक्ति से है। हम सबने शायद यह बहुचर्चित डायलॉग सुना होगा 'नए बोतल में पुरानी शराब' पैकेजिंग का सिद्धांत इसी बात पर आधारित होता है। हम उसका पैकेजिंग किस तरह से करते हैं, यह बात ही एक उपभोक्ता को आकर्षित करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण होती है। फिलिप कोट्लर एवं गैरी आर्मस्ट्रोंग का कहना है 'एक अच्छी पैकेजिंग बाजार में मौजूद अपने प्रतिस्पर्धियों से आगे निकलने तथा विक्रय क्षमता को बढ़ाने का काम करती है'।[17] इस तरह पैकेजिंग के कई उद्देश्य हो सकते हैं। यथा :

क) ब्रांड की पहचान
ख) विवरणात्मक एवं आकर्षक संदेश को उपभोक्ता तक पहुंचाना
ग) उत्पाद को सुरक्षित एवं समुचित ढंग से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाना।
घ) उत्पाद को घर में सुरक्षित रखने में मदद करना।
च) उत्पाद की खपत को बढ़ाना आदि।

ब्रांड के मार्केटिंग उद्देश्यों को प्राप्त करना एवं उपभोक्ताओं की इच्छाओं को संतुष्ट करने में पैकेजिंग का महत्वपूर्ण योगदान है। वस्तु के आकार एवं प्रकार, रंग, डिजाइन आदि के अनुरूप ही इसकी पैकेजिंग की जाती है। जैसे शीशे से बनी किसी भी सामग्री में उसकी पैकेजिंग करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि सामग्री का कुछ नुकसान न पहुंचे और साथ में यह भी लिख दिया जाता है 'पैकेट के अंदर नाजुक सामान है, कृपया सावधानी बरतें।'

उपरोक्त सभी तत्व एक ब्रांड की ब्रांड इक्विटी का निर्माण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सिद्धांततः सभी ब्रांड तत्वों का मिश्रण ऐसे होना चाहिए जो कि वह एक उत्पाद एवं सेवा की ब्रांड इक्विटी को बढ़ा सके। सभी ब्रांड तत्व का उद्देश्य यही होना चाहिए कि वह ब्रांड की ताजा तस्वीर को समग्र रूप में एक साथ प्रस्तुत कर ब्रांड की पहचान को प्रभावी और

बाजारोन्मुख बनाने में कामयाब हो। इस तरह पूरे ब्रांड इक्विटी, ब्रांड के लिए की जानेवाली मार्केटिंग हेतु किए गए पुराने निवेश के परिणाम के रूप में उत्पाद की कीमत की महत्व की अभिव्यक्ति है। ब्रांड इक्विटी का मतलब एक ऐसे पुल से है जिससे पता चलता है कि पूर्व में क्या हुआ है एवं भविष्य में ब्रांड के विकास के लिए क्या किए जाने वाला है।[18]

ब्रांडिंग क्या है?

सामान्य शब्दों में कहे तो ब्रांडिंग उस प्रक्रिया का नाम है जिसके माध्यम से ब्रांड एवं ब्रांड पहचान का विकास होता है। मसलन यदि एक उपभोक्ता हमारे बारे में कुछ जानता है, हमारे बारे में कुछ सुना है तो इसका मतलब है, हमने अपना काम पूरा कर लिया। सौभाग्य से ब्रांड का आकलन करने वाली एजेंसियों के लिए इसका मापन (Measure) करना अत्यंत कठिन काम है। अतः ब्रांडिंग के प्रचार को इसके उज्जवल भविष्य के अनुमान को लेकर इससे लाभ कमाया जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रांडिंग का उद्देश्य है कंपनी या संस्था की बात हितों और उद्देश्यों को संचारित करना और इन उद्देश्यों को संभव एवं सफल करने का काम करते हैं ब्रांडिंग के विभिन्न तत्व : मसलन लोगो, नाम, पैकेजिंग, विज्ञापन, स्लोगन इत्यादि।

प्रसिद्ध विज्ञापन गुरु अलीक पद्मश्री का कहना है कि 'विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियां या निगम यह भूल जाते हैं कि एशिया के लोग जब किसी चीज को खरीदते हैं या किसी चीज के ग्राहक बनते हैं तो तर्क या काम भावना से ज्यादा बनते हैं। पूर्व के देशों में भावनाओं की बड़ी भूमिका है। दूसरी बात यह है कि भारतीय उपभोक्ता या ग्राहक जातीय पहचान में यकीन करता है इसलिए मार्केटिंग का सिद्धांत कहता है कि लोगों को बड़े विचार का 'बिग आइडिया' देकर लुभाया जा सकता है। वही लोगों को प्रेरित करता है, जो याद रखा जा सके'।[19]

उपभोक्ता कौन?

सवाल उठता है कि इस ब्रांडिंग का शिकार कौन होता है अथवा इसका उपभोक्ता कौन बनता है? सामान्य शब्दों में कहे तो समाज का ऐसा कोई भी व्यक्ति जो बाजार के उत्पादों का उपयोग करता है। वह इसका उपभोक्ता है। फिर यह उपभोक्ता वर्ग छोटे गांव, कस्बे, नगर, महानगर कही का रहने वाले हों। आज का उपभोक्ता ज्ञानवान एवं सजग है। किसी भी उत्पाद को जांचने परखने की उसकी अपनी समझ है। उसे इस बात का पता है कि उसे किस तरह का उत्पाद दिया जा रहा है और उसकी कीमत क्या है।[20]

एलेम आर.ए. एंडरशन (Alam R A Andersen) अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि 'किसी भी उपभोक्ता को खरीददार बनाने में जो चीज सबसे बड़ी भूमिका निभाते हैं वह है उत्तेजना या उत्प्रेरक। मसलन यदि आप किसी भी व्यक्ति को अपना उत्पाद खरीदने के लिए प्रेरित कर सकते हैं तो आपका उत्पाद सबसे अच्छा है।'[21] जबकि हॉवर्ड एवं शेथ (Haward and Seth) के सिद्धांत के अनुसार एक उत्पाद को उपभोक्ता तक पहुंचाने के लिए कई चीजें एक साथ काम करती हैं यथाः गुणवत्ता, मूल्य, सेवा, उपलब्धता एवं विशिष्टता आदि। ये वे गुण हैं जो एक उत्पाद एवं ब्रांड के भविष्य को तय करते हैं तथा यही उत्पाद और ब्रांड आगे चलकर उपभोक्ता के

सामाजिक व्यवहार के कारक तत्व बन जाते हैं, जिसकी प्रभावशीलता का कायल कोई भी व्यक्ति, परिवार, समुदाय हो सकता है जो कि आपके ब्रांड से प्रभावित होता है। अतः उपभोक्ता ऐसा कोई भी व्यक्ति, परिवार तथा समाज हो सकता है जो कि एक उत्पाद या ब्रांड की सीमा में बंधा हो।'[22]

अंततः उपभोक्ता एक ऐसे व्यक्ति का नाम है जो किसी भी उत्पाद को अकेले खरीदने या न खरीदने का निर्णय लेता है। व्यक्तिगत अवधारणा का यह प्रश्न सीधे बाजार से जुड़ा होता है जिसे हम बाजार की भाषा में व्यक्तिगत मार्केटिंग, स्वैच्छिक मार्केटिंग का नाम दे सकते हैं। अर्थात ऐसा कोई भी व्यक्ति जो बाजार के किसी उत्पाद को खरीदने की शक्ति रखता है वह उपभोक्ता है।[23]

उपभोक्तावादी संस्कृति क्या है?

संस्कृति जीवन जीने की एक कला या प्रणाली का नाम है। अर्थात समाज के वे रीति-रिवाज, रहन-सहन, प्रणाली, कार्य-व्यवहार के वे सभी तत्व जो एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं, संस्कृति के तत्व है।

समाज भी इसी संस्कृति का वह भाग होता है जिसका निर्णायक बाजार, उत्पाद और ब्रांड होता है। इसे हम उपभोक्तावादी संस्कृति के नाम से जानते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति के उत्प्रेरक के अनुसार 'व्यक्ति विशेष के एंद्रिक प्रणाली एवं शारीरिक इच्छाओं को जो उत्प्रेरित कर दे वह उत्प्रेरक उत्पाद (Catalyst) कहलाता है।' कुछ अन्य अध्ययनों के अनुसार एक व्यक्ति के मूल्यों, प्रवृत्तियों, विचारों एवं उसके व्यक्तित्व में बाजार के द्वारा जो बदलाव आता है, वही उपभोक्तावादी संस्कृति का आधार है। पेस्सिमिएर तिगेर्ट एवं वेल्स एंड तिगेर्ट (Pessemier Tigert and Wells and Tigert) ने इस संस्कृति को जीवन प्रणाली, समुदाय एवं बाजार के व्यवहार से जोड़कर देखते हुए कहा कि 'जब व्यक्ति की रुचि एवं प्रवृत्ति को समुदाय की रुचि एवं प्रवृत्ति के साथ बाजार के व्यवहार में बदल दिया जाता है तब उपभोक्तावादी संस्कृति का जन्म होता है और बाजार में नित नए आने वाले ब्रांड ऐसी ही संस्कृति के जनक होते हैं।[24]

उपभोक्ता पर अपनी टिप्पणी करते हुए सी. के. प्रहलाद एवं वेंकट रामास्वामी (C.K. Prahlad & Venkat Ramaswamy) ने अपनी पुस्तक 'द फ्यूचर ऑफ कोम्पेतिसन (The Future of Competition) में लिखा 'ब्रांड प्रबंधन करते समय ब्रांड की संपूर्ण अवधारणा को विषय विशेष पर केंद्रित करके वर्गवार ढंग से व्यक्ति विशेष को केंद्रित बना दिया जाता है।'[25]

ब्रांडिंग की अवधारणा से एक बात तो स्वतः स्पष्ट है कि यह एक ऐसी संकल्पना है जिसका शिकार आमजन है। ब्रांड पहले एक सिंबल निर्मित करता है जो लोगों को आकर्षित करे। फिर यह सिंबल स्टेटस का रूप ग्रहण कर लेता है। जिसको मीडिया के द्वारा बहु प्रसारित एवं विज्ञापित कर उपभोक्ता के सुप्त मस्तिष्क में आक्रमण कराया जाता है। जिससे उपभोक्ता अपनी विस्मृत में जाता है और तभी चुपके से बिग बाजार टाइप से शॉपिंग मालों के विज्ञापन लुभावने टैग लाइनों के साथ 'साल का सबसे सस्ता दिन' अथवा 'महासेविंग डे' के साथ उपभोक्ता के दिमाग में उतार दिया जाता है। इस तरह के विज्ञापन ही उपभोक्ता को खींचने

के लिए सबसे बड़े मार्केटिंग एजेंट है।[26] मसलन एक छोटे गांव या कस्बे की लड़की जब टी. वी. पर शैंपू का विज्ञापन देखती है तो उसके मन में उसी सनसिल्क शैम्पू का ख्याल आता है जिसका बालों में इस्तेमाल करने से उसके रूखे-सूखे बाल टी.वी. में दिखाई देनेवाली लड़की के जैसे हों अर्थात मुलायम, काले और सिल्की। तब यह किसी को अचरज नहीं होता कि यह यही गांव की लड़की जो कल तक काली मिट्टी से बाल के लट को छुड़ाने के लिए घंटों माथा-पच्ची किया करती थी। वही आज गांव के बनिए से एक रुपए के सनसिल्क के पाउच से बाल धोकर मगन हो जाएगी और इतराकर बोलना चालू कर देगी कि आज मैंने सनसिल्क शैंपू से बाल धोए हैं।[27]

वास्तव में ब्रांडिंग एक ऐसी वैज्ञानिक परिकल्पना का नाम है जो उपभोक्ता की वर्जनाओं को तोड़ने का काम करती है और उन्हें एक नई संस्कृति में प्रवेश कराती है, जिसे हम उपभोक्तावादी संस्कृति का नाम दे सकते हैं।

ब्रांड और उपभोक्तावादी संस्कृति का संबंध

ब्रांड और उपभोक्तावादी संस्कृति का सदैव से परस्पर संबंध रहा है। बाजार में आने वाला हर नया ब्रांड, अपने साथ एक नवीन विचार, शोध, परीक्षण और विचारों की एक शृंखला लेकर आता है। इन विचारों, शोधों और परीक्षण का अंतिम लक्ष्य होता है। इन ब्रांडों का उपभोक्ता समाज का वह व्यक्ति होता है जो ब्रांडों में अपनी छवि को देखता है और गर्व महसूस करता है। इस तरह प्रत्येक नया ब्रांड अपने साथ एक प्रतियोगिता को भी लेकर आता है। समाज के भीतर चलने वाली प्रतियोगिता, जिसका प्रभाव व्यक्ति एवं व्यक्तियों के समूह पर पड़ता है। ब्रांड की यही अंतिम परिणति भी होती है। ब्रांड के संदर्भ में एक और बड़ी बात कही जाती है कि 'ब्रांड को हमेशा अपने उत्पाद के अनुरूप ही विकसित किया जाता है तथा इसकी विशेषताओं को बहुत गहरे ढंग से अभिव्यक्त किया जाता है।'[28]

व्यक्ति की यही जरूरत जब समाज की जरूरत बन जाती है। तब समूह संस्कृति का जन्म होता है। नहीं तो भला ऐसा क्यों होता है कि कल तक हमारे लिए एक अनजान सा खिलौना लगने वाला मोबाइल फोन धीरे-धीरे हमारी आवश्यक आवश्यकता बन जाता है। फिर यही मोबाइल बहुरंगी बाजार में इस कदर हावी हो जाता है कि वह हमारी संपूर्ण दिनचर्या, जीवन प्रणाली को बदल देता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे सोने के बाद उठते ही सिरहाने रखा हुआ पानी का वह लोटा, जो सुबह उठते ही हमारी प्यास को बुझाता है, ठीक ऐसे ही मोबाइल फोन एक व्यक्ति के लिए संचार का ऐसा माध्यम बन जाता है, जिसको बगल में रखे बिना कई लोग तो सोने की कल्पना भी नहीं कर सकते। एक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन प्रणाली एवं संस्कृति में परिवर्तन कर देनेवाला एक छोटा सा उपकरण किसी न किसी कंपनी का एक उत्पाद होता है और एक प्रसिद्ध ब्रांड का मोबाइल रखना उसके लिए गर्व की बात है। ब्रांड के द्वारा समाज की बदली हुई इस प्रवृत्ति को परिभाषित करते हुए डेविड क्रेच एवं रिचर्ड एस. क्रुच फील्ड (David krech & Rechard S. Crutchfield) का कहना है 'एक व्यक्ति की व्यक्तिगत दुनिया में कुछ कारकों के सम्मान के साथ प्रेरक, भावनात्मक, काल्पनिक एवं ज्ञानात्मक प्रक्रिया का नाम

है ब्रांड। यह दुनिया के कुछ ऐसे पहलुओं की तरह है जिनके बिना जीवन जीने की कल्पना करना भी कई बार गंवारा लगने लगती है।'[29]

फायदा किसे?

परिणामतः यह बात बहुत लाजिमी है कि इस ब्रांड को बढ़ावा देने में फायदा किसे मिलता है। उत्तर बहुत सीधा और सरल है। पहला उस कंपनी को जो ब्रांड को बढ़ावा देने के लिए अपने तमाम हथकंडों का इस्तेमाल करती है दूसरा उन उपभोक्ताओं को भी जो इन उत्पादों का इस्तेमाल करते हैं। ये और बात है कि इस ब्रांड के नाम पर उपभोक्ताओं को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ती है। मसलन आज देश भर में जिस कदर रीटेल स्टोरों की भरमार हुई है जैसे बिग बाजार, रिलायंस स्टोर, अपना बाजार, स्पेंसर आदि। इससे एक तरफ जहां इन कंपनियों को फायदा हुआ है वहीं दूसरी तरफ आम उपभोक्ता को जहां एक तरफ फायदा मिला है वही दूसरी तरफ नुकसान भी हुआ है। कारण एक आम उपभोक्ता विज्ञापनों की दुनिया और मुख मार्केटिंग (word of mouth marketing) का शिकार हो जाते हैं। विशेषकर बड़े महानगरों के उपभोक्ता। बड़े-बड़े मॉल्स में बने ये रीटेल स्टोर उपभोक्ताओं को इस कदर आकर्षित करते हैं कि यहां बिना शॉपिंग किए बच कर निकलना भी मुश्किल ही जान पड़ता है। इन रीटेल स्टोरों की पैकेजिंग या कहे ब्रांडिंग इस कदर की जाती है कि आप बिना बुलाए मेहमान की तरह यहां पहुंच जाते हैं और होता यह है कि जो चीज आप खरीदने गए हैं उसको छोड़कर आप वह सारी चीजें खरीद आते हैं जो आपके लिस्ट में थी ही नहीं। मार्केटिंग कर भाषा में इसे न्यूरो मार्केटिंग कहा जाता है।[30]

इस उपभोक्तावादी संस्कृति का सबसे बड़ा फायदा स्वयं उन कंपनियों को होता है जो इन गतिविधियों में संलग्न है, कारण इसके माध्यम से वो एक ऐसी संरचना खड़ी कर देते हैं, जिससे भागकर एक आम उपभोक्ता जी ही नहीं सकता और इसके लिए इनका अपना एक पूरा तंत्र या कई संगठन काम करते हैं जैसे 'तुम जीते, हम जीते' के नाम पर एक ऐसा ये मायाजाल रच देते हैं कि आप सचमुच बहुत फायदे में है।[31] यथा यदि आप फला बैंक के क्रेडिट कार्ड से किंगफिशर एयरलाइंस का टिकट लेते हैं तो दस प्रतिशत की छूट के साथ-साथ फलां-फलां जगह होलीडे होम की सुविधा मुफ्त अथवा आप फलां-फलां स्टोरों से या आउटलेट से कोई सामान खरीदते हैं तो आपको इतने प्रतिशत की छूट मिलेगी। इसमें होता यह है कि सभी कंपनियां अपनी लाभ सीमा (Profit Margin) को पहले से ही इस प्रकार बढ़ाकर घटा देती है कि उस कंपनी के किसी माल का उपभोग करनेवाला उपभोक्ता कंपनियों के आपस में बनाए गए इस जाल में आकर फंस जाता है और न चाहते हुए भी कई ऐसी चीजों को खरीद बैठता है जिसकी सचमुच में उसे जरूरत नहीं थी।

परिणाम यह होता है कि इससे क्रेडिट कार्ड बेचने वाली कंपनी को सेवा शुल्क का फायदा मिलता है, एयरलाइंस को ग्राहक मिल जाता है, फिर एयरलाइंस के भीतर बैठे यात्रियों से सेवा शुल्क के नाम या टैक्स के नाम पर हवाई जहाज के अंदर खाई जाने वाली सामग्री को दस गुना ज्यादा दाम में परोसा जाता है। जिसमें एक खाद्य बनाने वाली कंपनी को फायदा मिलता है। अंत में ये सभी कंपनियां अपने समझौते (Memorandum of understanding) के तहत

इससे आने वाले लाभ का हिस्सा आपस में बांट लेते हैं।

कई बार बड़े खुदरा व्यापारियों और कंपनियों के बीच की आपस की गलाकाट प्रतिस्पर्धा में उपभोक्ता को भी इसका फायदा मिल जाता है। मसलन जब देश में पहली बार मोबाइल फोन आया तो इसको चलाने वाली कंपनियों ने आउटगोइंग एवं इनकामिंग कॉलों के लिए मुंहमांगी और अपनी मर्जी के हिसाब से कीमत वसूली। इसके बाद जैसे ही इस बाजार में अन्य खिलाडी उतरे इनकी कीमत अपने आप कम होती चली गई।

इस प्रकार से देखा जाए तो ब्रांड की इस लड़ाई में क्रेता-विक्रेता (buyer & seller) दोनों को फायदा मिल जाता है। ऐसे में बाजार की भाषा में कहे तो दोनों के लिए विन-विन (win &win) स्थिति होती है। यह फार्मूला भूमंडलीकृत बाजार में लगभग सभी वस्तुओं के लिए लागू होता है।

नुकसान किसे?

भूमंडलीकरण के इस युग में इन बड़े मॉल्स, रीटेल स्टोरों एवं बाजारों की पूरी संस्कृति हमारी समूची पारंपरिक वितरण प्रणाली के विरोध में खड़ी होती है जो सामान्यतः किसी भी देश के भीतर ही देश के छोटे किसानों, उत्पादकों का सामान सस्ते दामों में खरीदकर अपना लेवल लगाकर बड़े उपभोक्ताओं को ब्रांड के नाम पर इसका शिकार बनाते हैं। ऐसे में सबसे बड़ा नुकसान उन छोटे-मझोले किसानों को होता है जो इन सामग्रियों के उत्पादक हैं। कारण उनके सामान की उन्हें सही कीमत नहीं मिल पाती और बड़े व्यापारी इसका पूरा फायदा उठा लेते हैं।

दूसरा कई बार तो ऐसा होता है कि इन बड़े बाजारों एवं माल्स के संगठनों द्वारा खुदरा बाजार में किसी विशेष चीज की भारी खपत को देखते हुए उसकी आपूर्ति कर दी जाती है जिससे एक दस रुपए की चीज की भी भारी कीमत चुकानी पड़ती है जिसका पूरा प्रभाव समूचे मध्य वर्ग पर पड़ता है। कई बार मुद्रास्फीति जैसी समस्या का जन्म इन्हीं वजहों से होता है।

तीसरा और जो सबसे अहम् सवाल है वह यह कि बड़े मॉल्स और बाजारों की पूरी अवधारणा अमेरिकी बाजार व्यवस्था पर आधारित है जो लघु उद्योगों और छोटे बाजारों का निषेध करती है। यह पुराने ब्रिटिश मॉडल के विरोध में भी खड़ी होती है। जिसमें बड़े पूंजीपतियों और व्यापारियों को आगे बढ़ने के तो भरपूर अवसर मिलते हैं और छोटा व्यापारी और उद्यमी मारा जाता है। इससे समाज के एक बहुत बड़े वर्ग पर प्रभाव पड़ता है खासकर मध्य वर्ग और युवा वर्ग क्योंकि लघु उद्योगों के खत्म होने से बेरोजगारी बढ़ने की सम्भावनाएं प्रबल हो जाती है। किसान लोग गरीब से और गरीब होते चले जाते हैं और छोटे व्यापारियों का सारा धंधा चौपट हो जाता है इत्यादि इत्यादि।

परिणामस्वरूप समाज में कई प्रकार के परिवर्तन दिखाई पड़ते है मसलन गांव का शहरों की ओर पलायन, कृषि व्यवस्था का महत्व घटना, मशीनी सभ्यता पर अत्यधिक निर्भरता, बेरोजगारी का बढ़ना, छोटी सी छोटी चीजों का लागत से ज्यादा कीमत देना ब्रांड एवं इस संस्कृति के कुछ महत्वपूर्ण नुकसान हैं।

संदर्भ :

1. गूगल ईमेज वेबसाइट से साभार (http://www.google.co.in/images\q) indian+ firms+most)।
2. डेविड आकर, (1991) 'मैनेजिंग ब्रांड एकुइटी'।
3. फिलिप कोट्लर., के .एल, केलर, एम ब्रादी, एम गुडमैन, टी. हानसेन (2009), पृष्ठ 861।
4. यू.के. द्वारा प्रकाशित मार्केटिंग पत्रिका की वेबसाइट से (http://www.marketingmagazine. co.uk)
5. यू.एस. हिस्ट्री ट्रेडमार्क टाइम लाइन वेबसाइट (trademark/timaseline/tminde)
6. द इकोनामी एंड सोसाइटी ऑफ पोम्पली (डच मोनोग्राफ्स ऑफ एंनसिएंट हिस्ट्री एंड अर्किओलाजी)- विलियम्स जोंगमैंन, पृष्ठ 415।
7. सैबेज आर्ट : ए बायोग्राफी ऑफ जिम थामसन, न्यूयार्क- राबर्ट पलितो, अल्फ्रेड ए. काफ-1995, पृष्ठ 373।
8. दी इफ्फेक्ट ऑफ टाइम प्रेसर ऑन कंजूमर जजमेंट ऑफ प्राइज एंड प्रोडक्ट, जर्नल ऑफ रिसर्च (जून 30, 2003) रजनीश सूरी एवं केंट वी मोन्रो, पृष्ठ92-104।
9. दी इकोनामिस्ट ऑन ब्रांडिंग, रीटा क्लिफस्तोंन एवं जान सेमन (संपादित), न्यूयार्क ब्लूमबर्ग प्रेस-2004।
10. ट्रेडमार्क डालूशन : इम्पिरिकल मेजर्स फार एन इलुशिव कांसेप्ट, जर्नल ऑफ पब्लिक पालिसी एंड मार्केटिंग 19(2)-2000, मौरीन एंड जैकब जैकोबी, पृष्ठ 265-276।
11. ए फ्रेमवर्क फॉर मार्केटिंग मैनेजमेंट, फिलिप कोट्लर, केविन लेन केलर, पृष्ठ 153।
12. डिजाइनिंग ब्रांड इदेनत्तिटी (होवोकें ए. जे., जान विली एंड संस, 2003) एलीना व्हीलर।
13. जूसिंग द ओरेंज : हाउ तू टर्न क्रेक्रिएटीविटी इनटू ए पावरफुल बिजनेश एडवांटेज (बोस्टन हार्वर्ड बिजनेस स्कूल प्रेस, 2006)- पैइत फलें एंड फ्रेड सेन
14. 'मार्केटिंग मायोपिया हार्वर्ड बिजिनेस रिव्यू (जुला.-अग. 1960), थियोडर लेविट, पृष्ठ 45-56।
15. प्रिंसिपल ऑफ मार्केटिंग, फिलिप कोट्लर, गैरी आर्मस्ट्रोंग, पृष्ठ 248-253।
16. वही, पृष्ठ 255।
17. वही, पृष्ठ 256।
18. बाबमैत्री- बैंक ऑफ बड़ौदा की गृह पत्रिका, जुलाई-अगस्त-2003।
19. 22 अगस्त, 2002 को सीआइआइ (CII),दिल्ली कांफ्रेंस में अलिक पदमसी द्वारा दिए गए व्याख्यान से साभार।
20. द एमर्जिंग इरा ऑफ कस्टमर एडवोकेसी, एम आइ टी स्लोन मैनेजमेंट रिवियू-विंटर-2004, ग्लेन एल अर्बन- पृष्ठ 77-82।
21. एटीटूड एंड कानजुमर बेहैवियर : ए डिसीजन मॉडल, एलन आर एन्डर्शन, पृष्ठ 78-79।

22. कानजुमर बेहैवियर, हॉवर्ड एंड सेथ- पृष्ठ 191-195 ।
23. रेवेनु मैनेजमेंट : हार्डकोर तैक्टिस फॉर मार्केट डेमिनिशन (1997), रोबर्ट जी. क्रॉस, पृष्ठ 66-71।
24. साईकोग्राफिक्स : ए क्रिटिकल रिसर्च, स्रोत- जर्नल ऑफ मार्केटिंग रिसर्च-12, 1975- वेल्स एंड तिगर्ट, पृष्ठ 518-522।
25. द फ्यूचर ऑफ कंपटीशन, सी.के. प्रहलाद एवं वेंकट रामास्वामी- पेंगुइन ग्लोबल प्रकाशन, पृष्ठ 47-48।
26. इट हैपेंड इन इंडिया, किशोर बियानी, रूपा एंड कंपनी प्रकाशन, पृष्ठ 03।
27. रेडिफ बिजनेस पोर्टल के लिए अलिक पदाम्शी का इंद्राणी राय मित्रा द्वारा लिए गए साक्षात्कार से साभार।
28. इट हैपेंड इन इंडिया, किशोर बियानी, रूपा एंड कंपनी प्रकाशन, पृष्ठ 59-60।
29. एलिमेंट्स ऑफ साइकोलाजी, डेविड क्रेच एंड रिचर्ड एस.क्रेच फील्ड, पृष्ठ 20-29।
30. न्यूरो मार्केटिंग : ए न्यू मंत्रा फॉर मार्केटिंग, ब्रांड इक्विटी, द इकोनॉमिक्स टाइम्स, अक्टूबर-2008।
31. व्हाट इज न्यूरो मार्केटिंग : ए डिस्कशन एंड एजेंडा फॉर फ्यूचर रिसर्च, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ सायकोफिजियोलॉजी 63 (2007), निक ली, अमांडा जे. ब्रोडरिक, लौरा चौमबेरलेंन, पृष्ठ 199-204।

अन्य संदर्भ ग्रन्थ सूची

32. द नेशनल इमेज ऑफ ग्लोबल ब्रांड- जर्नल ऑफ ब्रांड मैनेजमेंट फैन वाई. (2002)।
33. प्रमोशनल कल्चर : अद्वारतेजिंग एंड सिबालिक एक्स्प्रेसन थियोरी, कल्चर एंड सोसाइटी) लंदन सेज पब्लिकेशन।
34. हाउ ब्रांड बिकेम आइकॉन : द प्रिंसिपल ऑफ कल्चर ब्रांडिंग- हाल्टन बी.डी.(2004), हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, हावर्ड।
35. कंज्यूमारिज्म; ब्रितानिया कनसिज इनसाइक्लोपीडिया ऑनलाइन-2008 ।
36. कंजप्सन एज मोरल प्रोतोगोनिज्म, हाउ मिथ एंड आइडियोलॉजी एनिमेट ए ब्रांड मेदिस्तेत मोरल कनफ्लिक्ट- जर्नल ऑन कंजूमर रिसर्च- लुदिक, मोरिस के., क्रेग जे. थाम्पसन एंड मरकुस गीज्लरः 2010।
37. ब्रांड इक्विटी, इकोनॉमिक्स टाइम्स, दिल्ली संस्करण।
38. जर्नल ऑफ मार्केटिंग रिसर्च- अमेरिकन मार्केटिंग एसोसिएसन।
39. http://www.jestor.org।
40. जर्नल ऑफ इंडियन बिजनेस रिसर्च : एमेराल्ड इंटरनेशनल बिजनेस।

❐❐

दोउ न एक संग होंहि भुआलू

संजीव

जिस व्यक्ति से हमें सबसे ज्यादा अपेक्षाएं होती हैं, उसी का आघात हमें सबसे ज्यादा परेशान करता है। फिलवक्त तो मेरे सामने रामविलास शर्मा ही हैं लेकिन उन्हीं के साथ हिंदी साहित्य के वे तमाम विराट व्यक्तित्व भी...।

मुझे रामविलास शर्मा से क्यों उलझन होती है? यह सवाल खुद से करता हूं। ऐसे में याद आते हैं रवींद्रनाथ टैगोर 'देखना पड़ेगा, कौन बोल रहा है, कहां से बोल रहा है।'

तो यहां रामविलास शर्मा बोल रहे हैं, अपनी अतीतोन्मुखी प्रगतिशीलता की गरिमामयी पीठिका से बोल रहे हैं। एक ख्याल आता है, क्या स्थान, काल, पात्र बदल देने पर भी वहीं बोलेंगे रामविलास, मसलन रामविलास शर्मा 'रामविलास कबीर' होते, 'रामविलास रैदास' होते, 'रामविलास नानक' होते 'रामविलास फूले' होते, 'रामविलास शाहू जी' होते, 'रामविलास आंबेडकर' होते, 'रामविलास राहुल' होते, या उनका कायांतरण 'पंडिता रमाबाई रामविलास' में होता तो भी क्या नहीं बोलते? उनकी 'भाषा' नहीं बदल जाती? तब भी क्या भारतीय अतीत उन्हें उतना ही गरिमाप्रद लगता? तब उनके ऋगवेद, अथर्ववेद या अन्य वेदों की बुर्जियां, कंगुरे, अटारियां 'लबेद' के मार से वैसी ही सुरक्षित रह पातीं?

110 पुस्तकों के प्रणेता, उद्भट विद्वान, घोर परिश्रमी वैदिक सभ्यता के समर्थन में ही क्यों तर्क बटोरते, सजाते रह गए वह भी मार्क्सवादी चादर ओढ़कर क्यों नहीं सुनाई दी उन्हें असंख्य दलितों, स्त्रियों, वंचितों की चीखें, उनकी कारक शक्तियों को क्यों दोषमुक्त कर दोष मात्र अंग्रेजी राज्य पर लादते रहे?

'वैसे तो तुम्हीं ने मुझे बरबाद किया है,
इलजाम किसी और के सर जाए तो अच्छा।'

हमारे जिन धर्मग्रंथों ने वैज्ञानिक चेतना की जड़ में मट्ठा डालने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी, उन्हें ही महिमा मंडित करने की उनकी क्या मजबूरी रही? कभी-कभी क्यों भ्रम होता है क्या कोई मार्क्सवादी विद्वान बोल रहा है या वेदपाठी ब्राह्मण? रामचरितमानस और 'रामराज्य' के हिमायती रहे। अकेले रामविलासजी नहीं, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, अज्ञेय तक... इनके लिए आर्य कहीं बाहर से नहीं आए थे। हड़प्पा की सभ्यता आर्यों की ही सभ्यता थी। प्रभाष जोशी के लिए तो जितनी भी बड़ी प्रतिभाएं थी, क्रिकेट खिलाड़ी तक, सभी उन्हीं की जाति की थीं।

कभी जातिवादी आग्रह तो कभी राष्ट्रवादी... प्रसाद जी ने कहा है 'जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फिर फैला आलोक व्योम तम पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।' बहरहाल...! अभी बात शर्माजी की हो रही है। शर्माजी कहते हैं, 'ऋग्वेद में ऋषि अनेक प्रकार के श्रम करते हैं इस शारीरिक श्रम के अलावा वे काव्य भी रचते हैं, यज्ञ करते हैं, देवताओं के लिए स्तुतियां बनाते हैं...।'

आगे शारीरिक श्रम की महत्ता व व्याख्याएं हैं। यदि ऐसा होता तो वेदों में केवल कुछ ऋषियों के नाम न होते, उनके उन क्षेत्रों के अवदानों की भी चर्चा होती, उन बढ़इयों, लोहारों, बुनकरों, कुम्हारों, जुलाहों, चर्मकारों और अन्य शिल्पकारों का भी जिक्र होता। लेकिन ऐसा है नहीं। जिक्र है, यज्ञ करने वाले, दान लेने वाले 'वरदान' या 'अभिशाप' देने वाले, अप्सराओं या दूसरों की स्त्रियों, कन्याओं को भोगने वाले ऋषियों और देवताओं का, किसी का नाम आया भी होगा तो अपवाद स्वरूप ही। अपनी पीठ ही ठोंकी गई। 'उन बेचारों' को तो शिक्षा से भी वंचित रखा गया।

सभ्यता के प्रथम चरण में हमें जहां तक मालूम है, सबसे पहले आविष्कार होता है आग का, फिर चक्र या चक्के का, आगे-पीछे कृषि और पशुओं को पालतू बनाने, वस्त्रों की बुनकरी, नावों-पोतों आदि के विकास, इसी के साथ-साथ धातुओं की खोजें, टेक्नॉलोजी और जरूरत के अनुसार उपकरणों का क्रमिक विकास और विस्तार भी। हमारी मानव सभ्यता इन शिल्पकारों और अन्न पैदा करने वाले किसानों की ऋणी है। सोना या हिरण्य तो मानो प्रकृत रूप में प्राप्त हो सकता था, पर अन्य धातुएं भट्ठियों और शोधनों के बाद ही प्राप्त की जा सकती थीं, जिसका अभिज्ञान श्रमिकों-शिल्पकारों को ही हो सकता था। हम जानना चाहते हैं, वेदों या धर्मग्रंथों में किस शिल्पकार का जिक्र है। कागज तक का तो आविष्कार हम कर न पाए, हम तो भोजपत्र, ताड़पत्र या मृदा-पट्टिका पर लिखते आए थे। लिपि का आविष्कार भी किसने किया, हमें नहीं मालूम। गणित के कुछ सूत्रों का आविष्कार अवश्य हुआ पर ऋषियों द्वारा नहीं। हमारे वेद आदि धर्मग्रंथ इन शोधकर्ताओं, शिल्पकारों, कलाकारों को दलित बनाए रखते थे। आर्यभट्ट जैसे वैज्ञानिक और 'असुर' जैसी लोहा बनाने वाली जाति, धातुओं के खोजी, उपकरणों के निर्माता, वैज्ञानिक आदि को शूद्र या धर्मविरोधी माना जाता था। असुर यहां एक गाली थी जो देवताओं, ऋषियों के आराम में खलल पहुंचाते थे या जो 'ईश्वरीय सत्ता' में हस्तक्षेप कर रहे थे। अगर किसी ऋषि को शिल्प का अनुसंधान का श्रेय जाता है तो उसका नाम कहां है, कहां है उसके अनुसंधान का नाम? हमें तो यही मालूम है कि हमारे तथाकथित ऋषियों ने उसे ईश्वरीय चमत्कारों से जोड़कर पल्ला झाड़ लिया। सबके लिए मंत्र रच डाले। यानी जो भी खोजें हुई उनका श्रेय लेने में अग्रणी।

आश्चर्य है, मनु, वाल्मीकि, तुलसी से लेकर रामविलास शर्मा तक, सभी पर दुःख कातर थे, मगर श्रेष्ठत्व का वह कौन-सा बॉटलनेक था कि ब्राह्मणवाद के उस दलदल से निकल नहीं पाए।

निराला ने एक बार रामविलास शर्मा से पूछा 'आपको क्या लगता है, वीरासन में बैठे गदाधारी महावीर की मूरत से भारतवर्ष (अविभाजित भारत) की छवि बनती है कि नहीं?'

रामविलास शर्मा ने उस समय उनका समर्थन नहीं किया यह उनकी प्रगतिशीलता थी, (निराला की साहित्य साधना, भाग-1)

स्वयं निराला रूढ़ियों से निकलना चाहते थे

'नवगति नवलय ताल छंद नव
नवल कंठ, नव जलद मंद्र रव
नव नभ के नव विहग वृंद को
नव पर नव स्वर दे
या
गहन है यह अंधकारा...'

इसके बावजूद बॉटलनेक का कौन-सा अवरोध था जिसे ये पार न कर सके महात्मा गांधी तक 'रामराज्य' के हिमायती रहे। क्या इन सभी को सीता, शंबूक, बलि, शूपर्णखा आदि के प्रति हुए अन्याय और अन्य असंगतियों का भान न था, इनके अंदर कहीं न कहीं, धूमिल के शब्दों में एक डरा हुआ हिंदू था यह भी नहीं कहा जा सकता। अपनी संपूर्णता में ये सेक्युलर भी थे।

तुलसी ने तो यहां तक कह डाला

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई,
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई।'

इसका मतलब क्या है? मतलब यह कि मन में मनुष्य मात्र के दुःखों से उद्धार की भावना लेकिन साधन वही। यह दलदल, वह बॉटलनेक क्या है? ब्राह्मणवाद या अतीत का व्यामोह!

रामविलासजी की हिंदी जाति की अवधारणा, सन 1857 की गदर की प्रथम स्वाधीनता संग्राम मानना, उनकी नवजागरण की अवधारणाएं और ऐसे अनेक प्रयास हजार वर्षों की गुलाम हिंदू जाति को हीनता बोध से उबारने की छटपटाहट है। इरादे नेक पर साधन वही। उन्होंने धर्म और अध्यात्म के पाखंड़ को कुछ न कहा, जातिवाद की पदानुक्रमता के जहर का रक्तबीज बोने वालों को कुछ नहीं कहा। वे मुख्यतः साहित्य और आध्यात्मिक दर्शन तक महदूद रहे। अतीत का उत्खनन कर व्यवहार में आने वाली भाषा के माध्यम से अपने सत्य का संधान किया जो कि अनुमान पर आधारित है, ठोस तर्कों और प्रमाणों पर नहीं, रामविलासजी इस पिछड़ी जाति को आगे ले आने के लिए पीछे जाते हैं, जबकि निरालाजी इसी बेकली से आक्रांत तरह-तरह के प्रयोग करते हैं, कहीं-कहीं अटपटे भी हो जाते हैं।

हिंदी पट्टी में रामविलासजी ने चार प्रकार के नवजागरण बताए हैं 1. ऋग्वेदकालीन, 2. उपनिषद्कालीन, 3. भक्ति-युग कालीन और 4. उन्नीसवीं सदी

इसी के साथ चार लोक जागरण भी 1. 1857 का स्वाधीनता संग्राम, 2. भारतेंदु युग 3. द्विवेदी युग तथा 4. छायावाद। यानी कुल आठ जागरण। हमारा यह मानना है कि हिंदी पट्टी में आर्य समाज जैसे इक्के-दुक्के नवजागरणों को छोड़कर कोई आंदोलन हुआ ही नहीं, जिसे हम नवजागरण की संज्ञा दे सकें। अगर कुछ हुआ भी तो भिखारी ठाकुर और इस तरह के कलाकारों, कार्यकर्ताओं द्वारा जिसे रामविलास की नजर क्यों नहीं देख पाई। नवजागरण महाराष्ट्र में ही सर्वाधिक सफल रहा। इसके तहों में जाने की जरूरत उन्होंने नहीं समझी, जाते तो सामाजिक विषमता और सांस्कृतिक वर्चस्व के कुछ और तत्व खोज पाते।

भिखारी ठाकुर एक बार एक किशोर नर्तक को नृत्य की महिमा बता रहे थे कि नृत्य

शिवजी का वरदान है। नर्तक ने भकुआ कर कहा 'हमें क्या वेद समझा रहे हैं मालिक जी, हम तो फलाने बाबू साहब के लौंडा (रखैल) हैं, सच तो यह है कि नवजागरण का सूत्रपात होना ही काफी नहीं है वह एक सतत प्रक्रिया है यदि वह शातत्य न हो तो मौलवादी शक्तियां फिर से काबिज हो जाती हैं।

क्या बात है कि इतने-इतने नवजागरणों और लोकजागरणों के बावजूद देश अभी तक सोया पड़ा है। हम उन भाववादी चमत्कारवादी मिथों और बांझ आध्यात्मिक दर्शनों, आत्ममुग्ध साहित्यिक विमर्शों का क्या करें-जो न हमें रोटी देता है न इज्जत बल्कि घृणा करना सिखाता है एक-दूसरे से।

जो अपना आत्मालोचन नहीं करता मर जाता है, चाहे वह व्यक्ति हो, समाज हो या फिर राष्ट्र। रामविलासजी की विद्वता आतंकित करती है, श्रम अभिभूत करता है पर जबरन लादी गई अतीतोन्मुखी प्रगतिशीलता और एकांगिता निराश करती है।

उनके प्रिय तुलसीदास का ही हवाला दें

'दोउ न एक संग होहिं भुआलू।
हँसब ठठाईब फुलाउब गालू।।'

❐❐

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की पत्रिका बहुवचन का अक्टूबर-दिसंबर 2013 का अंक सिनेमा के सौ साल पर केंद्रित होगा जिसके संभावित लेखक हैं

- ☞ विनोद अनुपम, प्रयाग शुक्ल, रामशरण जोशी, मनमोहन चड्ढा
- ☞ जावेद सिद्दीकी, सुधीर विद्यार्थी, शरद दत्त, प्रभु जोशी
- ☞ पुष्पेश पंत, प्रताप सिंह, उमेश चतुर्वेदी, आलोक पाण्डेय
- ☞ सलिल सुधाकर, अनंत विजय, अजय कुमार शर्मा
- ☞ ज्ञानेश उपाध्याय, विनोद विप्लव, एम.जे. वारसी, इकबाल रिजवी, जयप्रकाश चौकसे, सुरेंद्र तिवारी, प्रेम भारद्वाज
- ☞ सुधीर सक्सेना, कुमार नरेंद्र सिंह, अजित राय
- ☞ धरवेश कठेरिया, कृपाशंकर चौबे, सुरजीत कुमार सिंह, निलय उपाध्याय एवं कई अन्य रचनाकार

निर्मला : सामर्थ्य और सीमा

विजेंद्र नारायण सिंह

प्रखर आलोचक विजेंद्र नारायण सिंह ने बहुवचन के लिए यह लेख निधन से कुछ पहले ही लिखा था। इस बारे में उन्होंने फोन पर बात भी की थी। उनका यह लेख उनके सुपुत्र श्री परिमल प्रियदर्शी ने उपलब्ध कराया है। हम उनके प्रति आदरांजलि व्यक्त करते हुए यह लेख पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रेमचंद ने 'असरारे मआबिद' (1903 ई.) से लेकर 'मंगलसूत्र' (1936 ई.) तक कुल 15 उपन्यासों की रचना की। इनमें से अधिकांश उपन्यास बड़े आकार के हैं। छोटे आकार के तीन-चार उपन्यास ही हैं। उनका छोटे आकार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास 'निर्मला' है। 'निर्मला' इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली महिलाओं की पत्रिका 'चांद' में धारावाहिक रूप से नवंबर 1925 से नवंबर 1926 तक प्रकाशित हुआ था। पुस्तक रूप में यह हिंदी में 1927 में और उर्दू में 1929 में प्रकाशित हुआ। चूंकि यह उपन्यास महिलाओं की पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, इसलिए स्वाभाविक रूप से इसका विषय महिलाओं से संबंधित होना चाहिए था। प्रेमचंद ने अपनी समाज सुधारवादी प्रवृत्ति के अनुकूल इस उपन्यास का विषय दहेज-प्रथा और उसके दुष्परिणामों को बनाया। अपने एक पत्र में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि इस उपन्यास की रचना का उद्देश्य समाज की बुराइयों का पर्दाफाश करना है।

'निर्मला' में अनमेल विवाह और दहेज-प्रथा की दुखांत कहानी है। उपन्यास के अंत में निर्मला की मृत्यु इस कुत्सित सामाजिक प्रथा को मिटा डालने के लिए एक भारी चुनौती है। पिता उदयभानु लाल की मृत्यु हो जाने पर माता कल्याणी दहेज न दे सकने के कारण अपनी पुत्री निर्मला का विवाह भालचंद और रंगीली के पुत्र भुवनमोहन से न कर बूढ़े वकील तोताराम से कर देती है। तोताराम के तीन पुत्र पहले ही से थे, इस पर भी उनकी विलासिता किसी प्रकार कम न हुई। इतना ही नहीं निर्मला के घर में आने पर एक नवयुवती वधू के हृदय की उमंगों का आदर और उसे अपना प्रेम देने के स्थान पर तोताराम को अपनी पत्नी और अपने बड़े लड़के मंशाराम के पारस्परिक संबंध पर विलासिताजन्य संदेह होने लगता है, जो अंततोगत्वा न केवल

मंशाराम के प्राणांत का कारण बनता है वरन् सारे परिवार के लिए अभिशाप बन जाता है। दूसरा लड़का जियाराम भी घर के विषाक्त वातावरण के प्रभाव अंतर्गत कुसंग में पड़कर निर्मला के आभूषण चुराकर ले जाता है। रहस्य का उद्‌घाटन होने पर वह भी आत्महत्या कर लेता है। सबसे छोटा लड़का सियाराम विरक्त होकर साधु हो जाता है। परिवार में निर्मला की ननद रुक्मिणी उसको फूटी आंखों भी नहीं देख सकती और प्रायः निर्मला के लिए दुःख और क्लेश का कारण बनती है। तोताराम दो पुत्रों के विरह से संतप्त होकर सियाराम को ढूंढ़ने निकल पड़ते हैं। उधर भुवनमोहन निर्मला को अपने प्रेमपाश में फांसने की चेष्टा करता है और असफल होने पर आत्महत्या कर लेता है। निर्मला के जीवन में घुटन के सिवाय और कुछ नहीं रह जाता। अंत में वह मृत्यु को प्राप्त होती है। जिस समय उसकी चिता जलती है, तोताराम लौट आते हैं। इस प्रकार, उपन्यास का अंत करुणापूर्ण है और घटना-प्रवाह में अत्यंत तीव्रता है।

निर्मला और तोताराम की इस प्रधान कथा के साथ सुधा की कहानी जुड़ी हुई है। तोताराम को जब निर्मला और मंशाराम के संबंध में निराधार संदेह होने लगता है और निर्मला अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए मंशाराम के प्रति निष्ठुरता का अभिनय करती है और जब मंशाराम को घर से हटाकर बोर्डिंग में दाखिल कर दिया जाता है, तो बालक मंशाराम के हृदय को मार्मिक आघात पहुंचता है। उसकी दशा दिन-पर-दिन गिरती जाती है और अंत में अपने पिता का भ्रम दूरकर वह मृत्यु को प्राप्त होता है। तोताराम को मानसिक विक्षोभ होता है। इसी समय प्रेमचंद ने सुधा और उसके पति डॉ. भुवनमोहन का (जिसके साथ निर्मला का पहले विवाह होने वाला था) निर्मला से मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित कराया। सुधा और निर्मला घनिष्ठ मित्र बन जाती है। सुधा अपने शील, सौजन्य और सहानुभूतिपूर्ण हृदय से निर्मला को मुग्ध कर लेती है। वह निर्मला की छोटी बहन कृष्णा का विवाह अपने देवर से कराती ही नहीं वरन् निर्मला की माता की गुप्त रूप से आर्थिक सहायता भी करती है। निर्मला के मायके में कृष्णा के विवाह के बाद सुधा का पुत्र मर जाता है। निर्मला के भी एक बच्ची पैदा होती है। उसे लेकर वह अपने घर लौट आती है। एक दिन सुधा की अनुपस्थिति में जब निर्मला उसके घर गई, तो डॉक्टर भुवनमोहन आत्मसंयम खो बैठते हैं। पता लगने पर सुधा अपने पति की ऐसी भर्त्सना करती है कि वह आत्मग्लानि के वशीभूत हो आत्महत्या कर लेता है। इस घटना के पश्चात् तो निर्मला के जीवन की विषादपूर्ण कथा अपनी चरमसीमा पर पहुंच जाती है।

प्रेमचंद ने भालचंद और मोटेराम शास्त्री के प्रसंग द्वारा उपन्यास में हास्य की सृष्टि की है। दहेज की प्रथा हिंदू समाज के लिए अभिशाप रही है। 'निर्मला' को पढ़कर लगता है कि प्रेमचंद के दिनों में भी यह कम भयानक नहीं थी। निर्मला के जीवन की त्रासदी का मूल कारण यही प्रथा है। इस प्रथा का समाधान क्या हो सकता है, प्रेमचंद ने इस उपन्यास में इसका कोई संकेत नहीं दिया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस उपन्यास की रचना करते समय प्रेमचंद उस दिशा में अग्रसर हो रहे थे जिसका परिणाम 'गोदान' जैसे उपन्यास और 'कफन', 'पूस की रात', 'बड़े भाई साहब' जैसी कहानियों के रूप में सामने आया। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में एक आयामी समस्याओं को कभी नहीं उठाया। एक मुख्य समस्या के साथ और भी कई समस्याएं लिपटी रहती हैं। इस उपन्यास में दहेज की समस्या तो केंद्र में है ही, उसके साथ ही अनमेल

विवाह की समस्या भी है। यह दहेज की समस्या का परिणाम है। यों तो 'निर्मला' एक व्यक्ति और एक परिवार की त्रासदी है लेकिन वह समाज से कटी हुई नहीं है। प्रेमचंद मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का चित्रण नहीं करते हैं बल्कि उसके संस्थाबद्ध जीवन का चित्रण करते हैं। वे उसे एक स्वायत्त इकाई के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि एक ऐसी इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं जो अन्य इकाइयों के साथ अविच्छिन्न है। इसीलिए इसमें निर्मला की त्रासदी ऐसे समाज में घटित होती है जो भ्रष्ट और रूढ़िबद्ध है, जिसमें निर्मला के पिता उदयभानु लाल अपनी उदारता और ईमानदारी से अपने बच्चों को अभिशप्त करते हैं और आबकारी विभाग के भ्रष्ट कर्मचारी भालचंद्र सिन्हा दिन-दिन मोटे होते जाते हैं। इस भ्रष्टाचार के प्रति प्रेमचंद के मन में आक्रोश है जो भालचंद्र के इस व्यंग्यचित्र के रूप में अभिव्यक्ति पाता है 'भालचंद्र बहुत ही स्थूल, ऊंचे कद के आदमी थे। ऐसा मालूम होता था कि काला देव है, या कोई हब्शी अफ्रीका से पकड़कर आया है। सिर से पैर तक एक ही रंग था काला चेहरा इतना स्याह था कि मालूम न होता था कि माथे का अंत कहां है और सिर का आरंभ कहां? बस कोयले की एक सजीव मूर्ति थी। आपको गर्मी बहुत सताती थी। आप आबकारी में ऊंचे ओहदे पर थे, छः सौ रुपए वेतन मिलता था। ठेकेदारों से खूब रिश्वत लेते। आंखों का रंग लाल था। जैसे पक्का मुसलमान पांच बार नमाज पढ़ता है, वैसे ही आप भी पाँच बार शराब पीते थे।' स्वाभाविक है कि ऐसे भ्रष्ट लोगों में मानवीयता मर जाती है। इसलिए निर्मला के पिता के मरते ही भालचंद्र ने उसके साथ अपने पुत्र का विवाह करने से साफ इनकार कर दिया और निर्मला को अपने पिता की अवस्था के मुंशी तोताराम की पत्नी बनना पड़ा।

मुंशी तोताराम और निर्मला दोनों इस भ्रष्ट समाज-व्यवस्था के अपने-अपने ढंग से शिकार हैं। निर्मला तो विवश है। इसलिए वह दयनीय है। इस उपन्यास में अनेक करुण प्रसंगों की उद्‌भावना करके निर्मला के प्रति पाठकों की करुणा को लेखक ने उत्तेजित किया है। इसकी चरम परिणति निर्मला की मृत्यु पर रूपात्मक टिप्पणी है : ''चौथे दिन संध्या समय वह विपत्ति-कथा समाप्त हो गई। उसी समय जब पशु-पक्षी अपने बसेरे को लौट रहे थे, निर्मला का प्राण-पक्षी भी दिन भर शिकारियों के निशानों, शिकारी चिड़ियों के पंजों और वायु के प्रचंड झोंकों से आहत और व्यथित अपने बसेरे की ओर उड़ गया।'' निर्मला के करुण अवसान और प्रेमचंद की इस टिप्पणी को पढ़ते समय हार्डी के उपन्यास 'टैस' की नायिका की करुण परिणति हमारी चेतना में कौंध जाती है। निर्मला को वरण की स्वाधीनता नहीं थी, उसके सामने कोई विकल्प नहीं था, लेकिन मुंशी तोताराम के सामने विकल्प था। वे चाहते तो अपने बड़े पुत्र से एक वर्ष छोटी यानी 15 वर्ष की लड़की से विवाह न करते। उनकी जिस प्रकार की परिस्थिति थी, उसमें उनके लिए विवाह अनिवार्य नहीं था। उनकी उम्र पचास वर्ष की थी। उनकी बयालीस वर्ष की विधवा बहन उनके साथ रहती थी। उनके पहली पत्नी से तीन पुत्र थे, फिर भी उन्होंने विवाह किया। इसमें उनका अपना दोष कितना था और समाज का कितना था, जिसमें मुंशी तोताराम रहते थे। हमें लगता है कि लेखक मुंशीजी को पूर्णतः दोषी नहीं मानता, समाज को ही दोषी मानता है। इसलिए उसने उन्हें दया और उपहास दोनों का विषय बनाया है।

जहां ऐसा पति और ऐसा समाज हो, उसमें त्रासदी का घटना आश्चर्य की बात नहीं है,

त्रासदी का न घटना आश्चर्य की बात हो सकती है। फिर यहां तो त्रासदी के घटने के लिए और भी स्थितियां थीं। निर्मला का सबसे बड़ा सौतेला पुत्र मंशाराम था। उसमें एक आदर्श युवक की सभी विशेषताएं थीं। वह इकहरे बदन का छरहरा, सुंदर, हँसमुख और लज्जाशील युवक था। वह कुशाग्रबुद्धि, पढ़ने में तेज और साहसी था। इसलिए एक ओर तो वह निर्मला की विलासिनी कल्पना की तृप्ति का साधन था और दूसरी ओर तोताराम के संदेह का विषय था। अगर सौतेले पुत्र के रूप में मंशाराम न होता, तो निर्मला अनमेल विवाह के बावजूद सहज जीवन व्यतीत कर सकती थी। निर्मला के आचरण को अस्वाभाविक बनाने और उसे त्रासदी की ओर ले जाने में उसकी ननद रुक्मिणी, अड़ोसी-पड़ोसियों तथा अन्य सौतेले पुत्रों ने भी अपनी भूमिका निभाई है। ऐसा लगता है, जैसे निर्मला के त्रासद अंत को पूर्णतः स्वाभाविक, विश्वसनीय और अनिवार्य बनाने के लिए प्रेमचंद ने पूरी घेरेबंदी की है और इसमें उन्हें बहुत बड़ी सीमा तक सफलता मिली है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने माना है कि 'निर्मला प्रेमचंद के कथा-साहित्य के विकास में एक मार्ग-चिह्न है। 'निर्मला' तक पहुंचते-पहुंचते प्रेमचंद की उपन्यास-कला में परिपक्वता आ चली थी। इसलिए वे इस उपन्यास में एक चुस्त और सुगठित कथा कह सके हैं। इस उपन्यास का लक्ष्य एक है और इसका केंद्र भी एक है। इसका लक्ष्य है निर्मला का त्रासद अंत और केंद्र है स्वयं निर्मला। इस उपन्यास की सभी छोटी-बड़ी घटनाएं निर्मला से संबद्ध हैं। वे या तो निर्मला के द्वारा प्रेरित हैं या निर्मला को आचरण-विशेष के लिए प्रेरित करती हैं। लगता है हर घटना उसे उसके त्रासद अंत की ओर ठेल रही है। घटनावली के बीच-बीच में सूक्ष्म संकेत प्रेमचंद देते चलते हैं जो उपन्यास के वातावरण को गहराते हैं। निर्मला की असहायता बार-बार इस उपन्यास में उभरकर आती है, उसके पूरे जीवन का विहगावलोकन करें, तो स्पष्ट होगा कि उसके प्राण-पखेरू को कहीं बसेरा नहीं मिला न पिता के घर, न पति के घर और न सखी-सहेली के घर। उसकी इस असहायता के संदर्भ में उपन्यास के प्रारंभ में कहे गए उसका एक कथन बहुत गहरा अर्थ देने लगता है। जब निर्मला के विवाह की बातचीत चलती है, तब उसकी बहन कृष्णा पूछती है कि जिस तरह निर्मला को पिता के घर से निकालकर पति के घर भेज दिया जाएगा, क्या उसी तरह कृष्णा को भी किसी दिन निकालकर भेज दिया जाएगा। निर्मला कहती है 'और नहीं क्या, तू बैठी रहेगी? हम लड़कियां हैं, हमारा घर कहीं नहीं होता है।' निर्मला की जीवन-कथा से तो यही सिद्ध होता है कि हमारे समाज में लड़कियां एकदम विवश होती हैं, उनका घर कहीं नहीं होता है।

लेकिन, सब जगह 'निर्मला' के कथानक का गठन इतना अच्छा नहीं है। इस उपन्यास के गठन में अनेक दोष अतिकथन के कारण आ गए हैं। प्रेमचंद ने पाठकों की बुद्धि और कल्पना पर बहुत कम विश्वास किया है। इससे उपन्यास की प्रभावशीलता कम होती है। इस उपन्यास के कथाशिल्प की एक और दुर्बलता संयोगों का अत्यधिक उपयोग है। उदाहरण के लिए जिस समय मुंशी तोताराम निर्मला से अपनी बहादुरी की डींग हांक रहे थे, उसी समय रुक्मिणी के कमरे में सांप निकल आया। जिस समय निर्मला के दाह-कर्म की समस्या उपस्थित हुई, उसी समय मुंशी तोताराम आ उपस्थित हुए। ऐसे संयोग यदि एकाध बार घटित होते हैं, तो

कथाशिल्प की अधिक हानि नहीं करते किंतु बार-बार घटित होने पर वे कथा की स्वाभाविकता को, उसकी विश्वसनीयता को खंडित करते हैं, पाठक को उबाते हैं। प्रेमचंद अपने उपन्यासों में अनेक पात्रों को जन्म देते हैं, किंतु जब कुछ पात्र लेखक की इच्छा के विपरीत फलने-फूलने लगते हैं तब वे लेखक के लिए समस्या बन जाते हैं। लेखक उनका क्या उपयोग करे, ऐसी स्थिति में प्रेमचंद ऐसे पात्रों की हत्या, आत्महत्या आदि का उपयोग करके मंच से हटा देते हैं। हत्या या आत्महत्या को अनिवार्य बना देने के लिए लेखक स्थितियां तैयार नहीं करता, बल्कि संयोगों का सहारा लेता है। जहां उन्होंने संयोग और स्थितियों की अनिवार्यता को समंजित कर दिया है वहां संयोग की ओर हमारा ध्यान कम ही जाता है। हमारी बात एक ही उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी। निर्मला अपने और अपनी बच्ची के आर्थिक भविष्य की अनिश्चितता के कारण बहुत कंजूस हो गई है। उसकी इस कृपणता के कारण बाजार का सारा काम सियाराम को करना पड़ता है। इतना ही नहीं, वह बाजार से जो चीजें मंगवाती है, उनमें अनेक कमियां निकालती है और बार-बार बदलवाती है। एक दिन वह सियाराम से घी मंगवाती है, फिर उसे लौटवाती है। सियाराम बहुत परेशान हो जाता है। वह भूखा ही स्कूल चला जाता है। उसे एक साधु मिलता है और वह उसी के साथ चला जाता है। यहां संयोग से साधु से सियाराम की होने वाली मुलाकात और उसका घर से भाग जाना इतना स्वाभाविक और अनिवार्य लगता है कि संयोग की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है। साधु के साथ सियाराम के घर छोड़कर चले जाने पर मुंशी तोताराम उसे खोजने निकलते हैं। निर्मला बीमार पड़ती है और उसकी मृत्यु हो जाती है। अगर सियाराम को निर्मला ने तंग न किया होता, तो वे सब घटनाएं न घटतीं, जिन्होंने निर्मला को इतनी जल्दी मृत्यु-मुख में पहुंचा दिया। पर निर्मला क्या करती? वह जिन परिस्थितियों और जिस मानसिकता में घिरी थी, उसमें यह सब करने के लिए विवश थी। कार्य-कारण शृंखला में घटने वाली घटनाओं की अनिवार्यता ही इसे प्रमाणित करती है कि यह परिपक्व कथाकार की रचना है। इस छोटी सी घटना के प्रतिक्रियास्वरूप घटित होनेवाली घटनाएं उपन्यास को जिस परिणति की ओर ले जाती हैं, वे हमें अनिवार्य लगती हैं।

'निर्मला' में अनेक शिल्पगत कमजोरियां हैं, लेकिन इस बात का अनुभव हमें बराबर होता है कि यह उपन्यास एक श्रेष्ठ कथाकार की रचना है। इसमें पात्रों के व्यक्तित्व की रचना कुलशतापूर्वक हुई है। सभी छोटे-बड़े पात्रों की अलग पहचान बना पाने में उपन्यासकार सफल हुआ है। पात्र न तो उपन्यासकार के मंतव्यों, विचारों और आग्रहों को व्यक्त करनेवाली कठपुतलियां बनकर रह गए हैं और न निजत्व और मनोवैज्ञानिकता के नाम पर अजूबा बनकर रह गए हैं। वे जीते-जागते मनुष्य हैं जो अपनी वर्गगत विशेषताएं भी रखते हैं और व्यक्तिगत विशेषताएं भी। इस उपन्यास में वर्णनात्मकता कम हुई है, संवादों की मात्रा बढ़ी है। 'निर्मला' उपन्यास का दो तिहाई कलेवर संवादों से निर्मित हुआ है। इसके संवाद जीवन के एकदम निकट के संवाद हैं।

'निर्मला' में प्रेमचंद ने जिस भाषा का उपयोग किया है, वह अनगढ़ सहज और आम बोलचाल की भाषा है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के अतिरिक्त उर्दू के बहुप्रचलित शब्दों का अवसरानुकूल प्रयोग किया है। अंग्रेजी के शब्दों से उन्हें परहेज नहीं, ग्राम्य जीवन की शब्दावली के उपयोग में कहीं कोई हिचक नहीं, मुहावरेदानी उनकी भाषा की विशेषता है। बिल्कुल सीधे-सादे

वाक्यों में केवल उनकी अनुतान के द्वारा गजब की व्यंजकता भर दी गई है। प्रेमचंद की संवेदना लोक संवेदना के बहुत निकट थी। इसी कारण वे नितांत सामान्य से पात्रों को लेकर, दैनिक जीवन की सामान्य-सी घटनाओं को लेकर इतने रोचक उपन्यासों की रचना कर सके। इसी का परिणाम है कि वे लोक भाषा को बहुत मामूली-सा फेरबदल करके साहित्यिक भाषा बना सके। वे लोकभाषा के जादू से परिचित थे। 'निर्मला' में लोकभाषा का जादू सिर चढ़कर बोल रहा है।

इस प्रकार, निर्मला प्रेमचंद की उपन्यास-कला के विकास में एक मील का पत्थर है। वह सामाजिक समस्या को मनोवैज्ञानिक गहराई के साथ प्रस्तुत करता है। यह ठीक है कि 'निर्मला' 'गोदान' नहीं है, लेकिन यह 'गोदान' की वह प्रारंभिक सीढ़ी अवश्य है जिस पर होकर प्रेमचंद 'गोदान' के शिखर का स्पर्श कर सके। वह प्रेमचंद के सर्वाधिक सुगठित उपन्यासों में से एक है। आकार में छोटा होने पर भी प्रेमचंद की उपन्यास-कला की सामर्थ्य और सीमा को व्यक्त करने में यह सक्षम है।

❐❐

भूल सुधार

बहुवचन-37 (अप्रैल-जून 2013)

'कहानी का दूसरा समय' विशेषांक के आरंभिक में 'कहानी का रचना विधान' पुस्तक के लेखक का नाम 'जानकी प्रसाद शर्मा' छप गया है। वास्तव में इस पुस्तक के मूल लेखक जगन्नाथ प्रसाद शर्मा हैं लेकिन स्मृति दोष के कारण जगन्नाथ के बजाए जानकी चला गया।

इसी प्रकार बहुवचन-37 के पृष्ठ 268 पर प्रकाशित सुभद्रा कुमारी चौहान की दुर्लभ कहानी के साथ प्रकाशित टिप्पणी के पहले पैरा को इस प्रकार पढ़ा जाए... परंतु 50 के आसपास अच्छी कहानियां लिखने के बावजूद हिंदी कहानी और हिंदी कथा साहित्य में उनके अवदान की चर्चा की प्रायः नगण्य है। त्रुटि के कारण कहानियों की संख्या 50 के बजाए 1950 प्रकाशित हो गई थी, जिससे कहानियों की संख्या को लेकर भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो रही थी। सुभद्रा कुमारी चौहान ने 50 के आसपास कहानियां लिखीं थीं। इन दोनों ही त्रुटियों के लिए मुझे हार्दिक रूप से खेद है।

संपादक

प्रेमचंद की कहानी 'रक्षा में हत्या' : 'दुर्लभ एवं असंदर्भित' होने का दावा कितना सच?

कमल किशोर गोयनका

बहुवचन अंक 36 (जनवरी-मार्च 2013) में कथा सम्राट प्रेमचंद की दुर्लभ असंदर्भित कहानी 'रक्षा की हत्या' की पुनर्प्रस्तुति आलोचक प्रदीप जैन के सौजन्य से की गई थी। इस संदर्भ में प्रेमचंद साहित्य के गंभीर अध्येता कमल किशोर गोयनका ने अपनी आपत्ति दर्ज कराते हुए एक टिप्पणी भेजी है। यह टिप्पणी पाठकों के संज्ञान और उन्हें सही स्थिति से परिचित कराने के लिए प्रकाशित की जा रही है। इसी के साथ इस विवाद का समापन किया जा रहा है। इस संदर्भ में अब कोई और पत्र या टिप्पणी नहीं छापी जाएगी।

प्रेमचंद पर आधी शताब्दी देने तथा सैकड़ों पृष्ठों के अज्ञात-अप्राप्य साहित्य को 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' (दो खंड) में प्रकाशित करने के बाद भी उनकी अज्ञात एवं दुर्लभ रचनाओं की खोज का सिलसिला अभी खत्म नहीं हुआ है। प्रेमचंद की कुछ रचनाएं अभी ऐसी हैं, जो पकड़ में नहीं हैं और पुरानी हिंदी-उर्दू पत्रिकाओं में दबी पड़ी हैं। मेरे कार्य के बाद प्रदीप जैन ने प्रेमचंद की ऐसी रचनाओं को खोजने का कार्य शुरू किया, जब उन्हें भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने उन्हें इस कार्य के लिए लगभग तीन लाख रुपए की शोध-वृत्ति प्रदान की। इन्हीं प्रदीप जैन ने 'बहुवचन' जनवरी-मार्च, 2013 के अंक में प्रेमचंद की कहानी 'रक्षा की हत्या' को दुर्लभ तथा असंदर्भित बताते हुए अपनी टिप्पणी के साथ प्रकाशित कराई है। प्रदीप जैन ने अपनी टिप्पणी में मुझ पर यह आरोप लगाया है कि मैं इस कहानी का उल्लेख करने के बावजूद इस दुर्लभ तथा असंदर्भित कहानी को खोज नहीं पाया।

मेरे लिए यह स्वाभाविक है कि मैं उनके आरोप का उत्तर दूं तथा वास्तविक स्थिति से पाठकों को परिचित कराऊं। यह सच है कि 'रक्षा में हत्या' कहानी मुझे खोजने पर नहीं मिली थी, क्योंकि इस शीर्षक से कोई कहानी किसी संकलन में संकलित नहीं थी और 'बालक' की पूरी फाइल भी मुझे नहीं मिल पाई थी। अतः वर्ष 1988 में जब 'प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य' प्रकाशित हुआ था, मेरे सामने यही स्थिति थी। प्रदीप जैन को 'बालक' के अंक मिल गए और

उन्होंने 'रक्षा में हत्या' कहानी के प्रकाशन का स्त्रोत ढूंढ़ निकाला, इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह कहानी दुर्लभ और असंदर्भित है। 'रक्षा में हत्या' कोई दुर्लभ तथा अप्राप्य कहानी नहीं है। इसका प्रकाशन 'नादान दोस्त' के नाम से उर्दू में 'खाके परवाना' उर्दू कहानी-संग्रह में सन् 1928 में हुआ था। अमृतराय ने सन् 1962 में प्रेमचंद की अप्राप्य एवं दुर्लभ 56 कहानियों को खोजकर तथा कुछ का उर्दू से हिंदी में रूपांतर करके 'गुप्तधन' के दो खंडों में प्रकाशित कराया था और 'गुप्तधन' खंड-2 में 'रक्षा में हत्या' कहानी 'नादान-दोस्त' शीर्षक से हिंदी में पहली बार प्रकाशित हुई थी। इसके बाद मेरा 'प्रेमचंद : विश्वकोश' (दो खंड) सन् 1981 में प्रकाशित हुआ तो इसके दूसरे खंड के पृष्ठ 216 पर 'नादान दोस्त' कहानी का विवरण तथा सारांश छपा है और सन् 1910 में प्रकाशित 'प्रेमचंद : कहानी रचनावली' (छः खंड) के खंड-चार में यह कहानी 'नादान-दोस्त' के नाम से संकलित है तथा सन् 1912 में प्रकाशित 'प्रेमचंद की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन' में भी 'नादान-दोस्त' का विवेचन है।

प्रदीप जैन को इसकी जानकारी है कि प्रेमचंद अपनी कुछ कहानियों को दो भिन्न नामों से प्रकाशित कराते रहे हैं तथा हिंदी-उर्दू में रूपांतर-अनुवाद आदि में उनके शीर्षक बदलते रहे हैं। कहानियों का शीर्षक बदलने का काम अमृतराय ने भी किया है, लेकिन एक कहानी का दो भिन्न शीर्षक होने पर वह दो भिन्न कहानियां कैसे हो सकती हैं? 'रक्षा में हत्या' कहानी 'नादान दोस्त' के नाम से सन् 1928 में ही उर्दू में 'खाके परवाना' में छप चुकी थी और फिर अमृतराय ने सन 1962 में प्रकाशित की और उसके बाद मेरे तीन ग्रंथों में उसका बराबर उल्लेख होता रहा। अतः 'रक्षा में हत्या' कोई नई कहानी नहीं है, न दुर्लभ है और न असंदर्भित है। वह दूसरे शीर्षक से बराबर प्रेमचंद-साहित्य में विद्यमान रही है। प्रदीप जैन ने ऐसी ही गलती प्रेमचंद की एक अन्य कहानी 'आसमान की परी' नाम से दुर्लभ बताते हुए 'गगनांचल', जुलाई-अगस्त, 2008 में प्रकाशित करा दी, जबकि यह कहानी 'स्वर्ग की देवी' के नाम से हिंदी में 'चांद', सिंतबर, 1925, 'प्रेम-प्रमोद' कहानी-संग्रह (1926) तथा 'मानसरोवर', भाग-3 (1938) में छप चुकी थी।

अतः प्रदीप जैन का यह दावा झूठा है कि 'रक्षा में हत्या' कहानी 85 वर्षों से 'बालक' के पृष्ठों में अचीन्ही पड़ी थी और इस दुर्लभ कहानी को प्रेमचंद-विशेषज्ञ भी ढूंढ़ नहीं पाए। प्रदीप जैन को इसका श्रेय अवश्य है कि वे 'नादान-दोस्त' कहानी के पूर्व शीर्षक अथवा उसके मूल शीर्षक के स्त्रोत को ढूंढ पाए, किंतु 'रक्षा में हत्या' कहानी के दुर्लभ होने का दावा पूर्णतः असत्य है। शोध-कर्म में किसी भी शोध कर्मी तथा विशेषज्ञ से गलतियां हो सकती हैं, किंतु उनके शोध-कर्म की ईमानदारी एवं निष्ठा पर शक करना उचित नहीं है।

❐❐

लेखकों के पते

खगेंद्र ठाकुर : क्षितिज, जनशक्ति कालोनी, पथ सं.-24, राजीव नगर, पटना-800024, मो. 9431102736

राघव शरण शर्मा : राष्ट्रीय अध्यक्ष, अखिल भारतीय अग्रगामी किसान सभा, एन.-9-31-सी 2, बृज इंक्लेव कालोनी, सुंदरपुर, पो. बजरडीहा, वाराणसी (उ.प्र.)

भारत यायावर : यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट, हजारीबाग-825301 मो. 9835312665

ओमप्रकाश सिंह : भारतीय भाषा केंद्र, जे.एन.यू., नई दिल्ली-110067, मो. 9899446861

दूधनाथ सिंह : आवासीय लेखक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 मो.9415235357

राकेश भारतीय : एफ-117 प्रगति विहार हॉस्टल, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

मलय : शिव कुटीर, टेलीग्राफ, गेट नं. 4, कमला नेहरू नगर, जबलपुर-2

ऋतुराज : आवासीय लेखक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 मो. 7709036848

श्याम कश्यप : बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट्स, वसुंधरा इंक्लेव, दिल्ली-110096 मो. 9891250940

दिविक रमेश : बी-295 सैक्टर 20, नोएडा-201301 (उ.प्र.) मो. 991017799

स्वप्निल श्रीवास्तव : 510 अवधपुरी कालोनी, अमानीगंज, फैजाबाद-224001 मो. 9415332326

संतोष श्रीवास्तव : 204 केदारनाथ को-आपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, सेक्टर-7, निकट चारकोप बस डिपो, कांदिवली (प.) मुंबई-40006

गंगा प्रसाद विमल : 112 साउथ पार्क, कालकाजी, नई दिल्ली-110019 मो. 9312505250

चंद्रकांता : मकान नंबर-302, सेक्टर 23, गुड़गांव-122017 (हरियाणा)

रणजीत साहा : एमआईजी- 1/26 विकासपुरी, नई दिल्ली-110018 मो. 9811262257

सुंदरम शांडिल्य : कथायन, पटेल का बागीचा, यादव कालोनी, सागर-470001 (मप्र)

विजेंद्र नारायण सिंह : परिमल प्रियदर्शी, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

विजय मोहन शर्मा : सी-358, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018, मो. 9810018167

संजय सिंह बघेल : सी-1008, अरुणिमा पैलेस, जी.एच., सैक्टर-4, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उप्र) मो. 9868593732

संजीव : डी-43ए, न्यू डीडीए फ्लैटस, चिल्ला मयूर विहार फेस-एक, दिल्ली-110091 मो. 8587832148

हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह हिंदी को अंतराराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है, जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्त्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनियाभर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियाँ और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग साढ़े चार लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब दो हजार पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय एक लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-सी मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को चौदह मुख्य खंडों में बांटा गया है—उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, भक्ति काल का साहित्य, विभाजन की कहानियां, लेखकों के समग्र और संचयन, ई-पुस्तकें, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिक निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रा वृतांत आदि शामिल हैं। एक प्रमुख खंड 'हिंदुस्तानी की परंपरा' का है, जिसमें उन कृतियों तथा रचनाओं को शामिल किया गया है, जो हिंदी-उर्दू की साझा परंपरा का जीवंत दस्तावेज हैं। एक खंड अभिलेखागार का भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों की तस्वीरों, उनकी हस्तलिपि में लिखित रचनाओं, ऑडियो, वीडियो, पत्रों आदि का संकलन है। लेखक दीर्घा में हिंदी के सभी समकालीन रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध कराने का प्रयास जारी है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेजकर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152230912 पर फोन करें या editorhindisamay@gmail.com पर मेल करें।

राजकिशोर
53, इंडियन एक्सप्रेस अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, दिल्ली-110096
फोन : 09650101266

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सदस्यता आवेदन-पत्र

बिक्री एवं प्रसार कार्यालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

बहुवचन का वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से 200 रूपये/चैक से 225 रूपये
बहुवचन का द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से 400 रूपये/चैक से 425 रूपये
Hindi Language Discouarse	: D.D. Annual Rs. 400/- by Cheque Rs 425/-
Writing Membership	: D.D. Institutions Rs 600/- by Cheque Rs 625/-
पुस्तक-वार्ता का वार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से 120 रूपये/ चैक से 145 रूपये
पुस्तक-वार्ता का द्विवार्षिक सदस्यता शुल्क	: बैंक ड्राफ्ट से 240 रूपये/ चैक से 265 रूपये

(नोट: कृपया मनीऑर्डर नहीं भेजें।)

चैक/ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा** के नाम पर बनाएँ और निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें।

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
गांधी हिल्स, डाक घर- हिंदी विश्वविद्यालय,
वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)

बहुवचन/पुस्तक-वार्ता/हिंदी लैंग्वेज डिस्कोर्स राइटिंग पत्रिका के अंकों के लिए रूपये.....का चैक/ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ:-

नाम:- .....

पता:- .....

.....

दूरभाष :- .....ईमेल:-.....

दिनांक:-

(सदस्य का नाम एवं हस्ताक्षर)